परमार्थ प्रकाश

लेखक :
सत्सम्प्रदायरत्नम् विष्वक्सेनाचार्य
वृन्दावन

प्रकाशक :
सत्सम्प्रदाय प्रकाशन • वृन्दावन

प्रकाशक :
सत्सम्प्रदाय प्रकाशन
श्रीरंग मन्दिर, वृन्दावन

प्रथम संस्करण : 500 प्रतियाँ
गुरु पूर्णिमा संवत् 2068

मूल्य : 150 रुपये

मुद्रण-संयोजन :
श्रीहरिनाम प्रेस, बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन-281121

प्रकाशकीय

प्रस्तुत निबन्ध जैसे सन्दर्भों के उदय और प्रवाह की गंगोत्री मतप्रवर्तकों की घातक उच्छृंखलता होती है। सहजानन्द के वचनों को मूल आधार मानकर सर्व श्रद्धेय आचार्यों के सम्मान के विरुद्ध लिखना चेलों के लिये उचित नहीं था। सहजानन्द ने अपने वचनों को कई बार सारे शास्त्रों का सार कहा है, कई बार अपने वचनों को शपथों से प्रमाणित करना चाहा है। जैसे स्वयं को भगवान् कहा है वैसे अपने वचनों को उन्होंने मूल प्रमाण नहीं कहा है। चेले भगवान् होने से उनके वचनों को प्रमाण नहीं मान सकते। भगवान् राम और भगवान् कृष्ण के वचन श्रुत्यनुसारी होने से प्रमाण हैं, भगवदीय होने से नहीं। वेदव्यास जी ने भगवद्गीता को स्मृति कहा है, उन्होंने उसे श्रुत्यनुसारी माना, मूलप्रमाण नहीं इसी से स्मृति कहा है। सहजानन्द के चेले जो "वचनामृत" और "सत्संगिजीवनम्" जैसे ग्रन्थों को मूल प्रमाण मानते हैं यह उनकी अविवेकमयी भावुकता है। ऐसे में तो हिन्दी और गुजराती एवम् बंगला, मैथिली, मराठी आदि भाषाओं के प्रसिद्ध लेखकों के सारे ग्रन्थ प्रमाण हो जायेंगे। उनमें बहुत से नास्तिकवादी चिन्तन भी मिलेंगे और उनके अनुसार मूल वेदादि ग्रन्थ ही अप्रमाण ठहर जायेंगे। सहजानन्द का कोई भी चिन्तन या वचन अवैदिक या वेदानुसारी कोई नया मत पन्थ चलाने का आधार बनने लायक नहीं है। गुरु के वचनों ने चेलों को भटका दिया है, इसी से ठोकरें हो रही हैं। सहजानन्द एक सामान्य संसारी जीव थे, उपाधि के रूप में भी भगवान शब्द उनके योग्य नहीं था। उन्होंने जो स्वयं को कई बार भगवान् घोषित किया और लिखित भी दिया यह उनकी पहली बड़ी भूल थी। चेले जो उनके वचनों को मूल प्रमाण मानने लगे यह उनकी दूसरी बड़ी भूल थी। उक्त भ्रान्त वचनों से जो नया सम्प्रदाय मानने लगे हैं यह तीसरी घातक भूल है। लिख छापकर जो अपने अज्ञानों का प्रचार करने में जुटे हैं यह उनका क्या है यह उन्हें स्वयम् मिल बैठकर समझ कर अनादि श्रेयोमय मार्ग अंगीकार करना चाहिये। भटका व्यक्ति किसी का विपक्ष नहीं होता, न उसका निरूपणयोग्य कोई मत होता है। वह तो "अन्धे नैव नीयमाना यथाऽन्धा:" की तरह किसी टटोल रहे के पीछे टटोल रहा होता है। श्रुति से हटे मतपन्थों का आदर भारत देश नहीं करता। जो कुछ लोग आदर देते हैं वे कांग्रेसी हैं, वोट के लिये आदर देते हैं।

वेदान्त निष्णात श्री विष्वक्सेनाचार्य जी की संस्कृत, हिन्दी में बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। गुजरात प्रवास के दौरान आपको एक नया वेदान्त मिला। इन्होंने यह देखा कि इस अजीब वेदान्त का कोई मूल आधार नहीं है। अनुयायी लोग कुछ कुछ अपुष्ट आधार मानते हैं। ये लोग परब्रह्म से भिन्न एक अक्षर ब्रह्म मानते हैं। उसका एक अवतार मानते हैं, वह अवतार अभी इस परम्परा का नेतृत्व कर रहा है। अवतार की चार पीढ़ियाँ हो चुकी हैं। मूल पुरुष को स्वामिनारायण कहते हैं। अब उनका भी एक अवतार होकर परमधाम पहुँच चुका है। उसे कृष्णवल्लभाचार्य कहते हैं। उसकी मूर्ति स्थापित करके स्वामिनारायण मानकर पूजते हैं। स्वामिनारायण की मूर्ति को परब्रह्म कहते हैं। भगवान् के अवतारों को और भगवान को भी महत्व नहीं देते। इससे रामकृष्ण विष्णु की पूजा नहीं करते न इनके भक्तों को आदर से देखते हैं। ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाते हैं पर वैष्णवता से दूर रहते हैं। अब ये लिखकर प्रचार भी करते लगे हैं कि अन्य आचार्य उपनिषद् नहीं समझ पाये थे, हमारे भगवान् स्वामिनारायण ने ठीक से समझा और हमें बतलाया। शास्त्र ज्ञान के अभाव में ये अपने अल्पज्ञ गुरु की असलियत नहीं समझ पाते और अन्ध श्रद्धा के वश में होकर महानों की अवहेलना करते रहते हैं।

इनकी मुद्रित पुस्तक "स्वामिनारायण दर्शन" में कुछ ऐसी बातें हैं जो सबको खलने वाली हैं। अनेक मौलिक संस्कृत हिन्दी रचनाओं से ख्याति प्राप्त एवम् परम्परागत ठोस वेदान्त के मर्मज्ञ श्री विष्वक्सेनाचार्य जी ने बहुतों के एवम् स्वामिनारायण मत से ऊबे उनके लोगों के भी अनुरोध पर यह संक्षिप्त उत्तर लिखा है। आगे उनके "वचनामृत" की विशद आलोचना करने वाले हैं। विवेकी तटस्थ पाठक निबन्धों का महत्व समझेंगे।

प्रस्तुत निबन्ध संग्रह के सिद्धहस्त सम्मानीय लेखक ने भटके सभी लोगों को सन्मार्ग दिखाने और पकड़ाने के लिये अपने ठोस विचार प्रदर्शित किये हैं। प्रसंगवश ही सहजानन्द की चर्चा ज्यादा आ गयी है। यह संग्रह सभी भारतीयों के लिये समानरूप से उपयोगी और कल्याणकारी है। इसी भावना से इसका प्रकाशन है। यह संग्रह प्रत्येक शिक्षित सहृदय के लिये संग्रहणीय है।

–प्रकाशक

अनुक्रम

परमार्थ प्रकाश

**चाह रही, गुरु हो कोई, आया भी कोई,
बना लिया गुरु, भला किया, प्रज्ञा भी पायी।
पूजो उसको ब्रह्म मानकर, मुक्ति मिलेगी,
मानस सर में सत् शास्त्रों की सूक्ति खिलेगी।
किन्तु न भूलो, जग का अणु अणु ईश्वर ही है,
सेवक सेव्य भेद यह सारा नश्वर ही है।
झुकते ही जाओ, न कभी सिर ऊपर लाओ,
रसमय श्रद्धा रखो, जन्मफल सुन्दर पाओ।
कौवा भी भगवान मान पूजा जाता है,
एक बार घर के बाहर वह भी भाता है।
सभी यहां भगवान, जीव की सत्ता क्या है,
प्रकृति नटी का नाच भेद भी लाता क्या है।
तजो वृथा अभिमान, नमन करते ही जाओ,
मोह मिटाओ, मुक्ति महाफल जल्दी पाओ।
सम्प्रदाय कोई न बड़प्पन कुछ देता है,
वह तो मान मोह माया के हर लेता है।
धोखे में न रहो पहले ही मन को रंग लो,
छोड़ो सब कुछ हरि को केवल अपने संग लो।
देखो, मुक्ति यहीं आती है चरण चूमने,
उसके संग निकल जाना वैकुण्ठ घूमने।
स्वामी हैं नारायण ही, इसमें क्या शक है,
उनका भी आकार बदलता है यह गप है।
होगा कुछ आकार नित्य वह वहीं मिलेगा,
सुरपुर में ही कल्पवृक्ष का कुसुम खिलेगा।
पर ब्रह्म अक्षर होता है, क्यों हटते हो,
बीच नयी तलवार डालकर क्यों कटते हो।
इस अक्षर ने बहुतों को पैशाच पढ़ाया,
ठेल पेलकर गर्व अचल के शिखर चढ़ाया।
यह असत्य का मानस सुत है, इससे बच लो,
सत्पथ से परमार्थ धाम तक शुभ मति रच लो।
अर्थ समझ लो साधु ठीक से तर जाओगे,
और नहीं तो बिना ज्ञान के मर जाओगे।।**

परमार्थ प्रकाश

परमात्मा ने महान् विवेक से सृष्टि रची है चेतनों को प्राचीन कर्म फल प्राप्त कराने के लिये और कर्म बन्धनों से छूटने के उपाय पकड़ाने के लिये। मुमुक्षुओं को उपाय समझ में आते हैं वेदादि शास्त्रों के परिशीलन से। वेदादि शास्त्रों का अध्ययन और श्रवण बहुतों को प्राप्त होता है, कुछ लोग मनन भी करते हैं किन्तु उनके अनुरूप अपना जीवन बनाने की शुद्ध श्रद्धा बहुत कम लोगों की होती है। पूर्व पापों से बहुतों की श्रद्धा मलिन रहती है इससे उनका तत्त्वबोध धुन्धला रह जाता है। वह बोध शुभ कर्मों में उत्साह नहीं भर पाता। कुछ की श्रद्धा खण्डित होती है, उन्हें समग्र तत्त्व पर आस्था नहीं होती वे भी उत्तम त्रिविध कर्म नहीं कर पाते। कुछ की श्रद्धा विपरीत होती है, वे तत्त्व का विरोध किया करते हैं, कर्मफलों पर आस्था नहीं रखते, वे कर्म करें ही क्यों? इस तरह श्रद्धा ही मानव का वर्तमान और भविष्य बनाया करती है। इसी से भगवान् गीता में कहते हैं–**'श्रद्धामयोऽयम्पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** श्रद्धा के अनुरूप ही मानव की अवस्थायें बनती और परिणाम मिलते हैं।

श्रद्धा की विगुणता ही मानव को अनादि काल से अमंगल की ओर खीचती आ रही है, वही इसे नाना संगठनों में बान्धती आ रही है, मानव का जो सबसे महान् गुण है सेवा भाव उसमें भी कटौती करती आ रही है। समग्र मानवता सेवकता तो है ही, सत्यता भी वही है, यही है मानव की सामाजिकता भी। इतना ही नहीं, मोक्ष के लिए वांछित सारे गुण मानवता के अन्दर ही बसते हैं, मुमुक्षुता के बिना मानवता अधूरी होती है। मानवता से बड़ा कोई सम्प्रदाय नहीं होता। छोटा कोई भी संगठन मोक्ष नहीं जानता, न दे सकता है। मानवता की पूर्ति शास्त्रों के निष्ठापूर्ण अध्ययन से होती है। निष्ठा विरोधशमन करती चलती है। सामान्य मानव मोक्ष से भी बढ़ कर मानता है अपनी संकीर्णता को। वह केवल अपनी जननी को जानने वाले शिशु की भांति होता है। इसी से बहुत से मानवसंगठन स्वयं को मोक्षमार्ग में अग्रसर कहते हैं पर रहते हैं सांसारिक बड़ी उलझन में। उन्हें स्वयं ही स्वयं को एक शराबी की तरह धोखे में रखने का व्यसन होता है। सम्प्रदाय वाले अपनी पुस्तकीय धारणा से मोक्ष को जितना सुलभ मानते हैं, उससे हजार गुना वह दुर्लभ होता है। क्योंकि रंगे भी

संसारियों को वह भाता ही नहीं, इससे वे सुन समझ नहीं पाते। यदि सुनने को उद्यत भी होते हैं तो वक्ता सदाचार्य ही हो, सदुपाय ही बतलाये यह सम्भावना कम रहती है। यदि वक्ता सदाचार्य प्रवचन कुशल दयावान् भी मिल जाये तो श्रोता में अवधान और विवेक शक्ति की कमी से श्रवण अधूरा रह जाता है, श्रवण पूरा होने पर भी पूर्व सुकृत की कमी से प्रमाद आकर श्रवण को अपने में बहा ले जाता है। इस तरह सही ज्ञान मिलने के बाद भी मोक्ष दुर्लभ ही रह जाता है। निश्चित मोक्ष के लिये भगवत्कृपा, गुरु कृपा, शास्त्र कृपा और आत्म कृपा ये चार कृपायें अपेक्षित होती हैं। यदि भगवत्कृपा पहले मिल जाती है तो शेष तीन कृपायें यथासमय स्वतः पूरी हो जाती हैं किन्तु अल्प पुण्य वाले चेतनों में पहले आत्मकृपा सक्रिय होती है, तब शास्त्रों और शास्त्र निष्ठों पर श्रद्धा होती है, तब यत्नपूर्वक सद् आचार्य का अन्वेषण होता है, उपलब्ध सदाचार्य की कृपा से क्रम से शास्त्रकृपा बनती है। शास्त्र कृपा बन चुकने के बाद चिर काल सतत अप्रमाद पूर्वक हरि सेवा रूप निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान चलता है, उसी क्रम में कभी पूर्ण समर्पण यानी शरणागति का भाव बन जाता है। शरणागति के क्षण में ही भगवान् उस अधिकारी को अपने प्रिय मित्रों की सूची में रख लेते हैं तब से संसार में उसके स्वरूप की रक्षा भगवान् स्वयं करते हैं। शरणागति से माया का अहम् भाव गल जाता है तब शुद्ध उपाय भक्ति के साथ अनन्य भक्ति भी चित्त में स्वयम् बन कर बढ़ने लगती है,तब मुमुक्षु को प्रभु का वियोग ज्यादा ही खलने लगता है। प्रभु को चेतन की यह अवस्था बहुत प्रिय तो लगती हैं किन्तु दयासागर होने से उसे शीघ्र ही अपना लेते हैं। पूर्व कर्मों के दुष्प्रभाव से उबार कर चेतनों को अपनाने की उनकी प्रक्रिया रहस्य ग्रन्थों में है।

शरणागति एक रहस्य विद्या है, वह बिखरे रूप से वेदादि शास्त्रों में मिलती है। इसका एक मन्त्र है जो आचार्य के माध्यम से ही समझा जाता है। आर्य समाज के प्रवर्तक, गुजरात में जन्मे, घर पर मूल शंकर नाम से प्रसिद्ध, बाद के दयानन्द सरस्वती को शरणागति मन्त्र अवैध रूप से मिला था। उसका उल्लेख उन्होंने अपने सत्यार्थ प्रकाश में किया है। जैन वेदों को प्रमाण नहीं मानते, बौद्ध मनीषी शब्द प्रमाण का ही खण्डन करते हैं। उनकी दृष्टि में दयानन्द ने कुछ नहीं किया। कुछ मनीषियों की दृष्टि में समग्र अनादि गीता शास्त्र शरणागति विद्या

है। कुछ सन्त मानते हैं कि वाल्मीकीय रामायण का पूरा सीता चरित्र शरणागति का व्यावहारिक रूप है। वेदव्यास जी ने किसी समय ऋषि मुनियों को संकेत दिया है कि स्त्री जाति, शूद्र जाति और कलिकाल शरणागति में सहायक और अनुकरणीय हैं इससे मुक्ति के निकट हैं। श्रीमद्‌भागवत में ब्रह्मा जी का वचन है कि भक्ति के बिना केवल तत्त्व ज्ञान निष्फल है। यह तो उनका वचन है किन्तु तत्त्वनिष्ठ को भक्ति होती ही है। भक्ति का मूल और चरम परिणति भी शरणागति ही है। शरणागति को प्रपत्ति भी कहते हैं। प्रपत्ति का वास्तव अर्थ है तत्त्व निष्ठा। सद्‌आचार्य मानते हैं कि भक्ति प्रपत्ति और तत्त्वनिष्ठा एक ही सत्य के तीन पहलू हैं। जो लोग भक्ति की उपयोगिता तो बतलाते हैं किन्तु उसकी चरम परिणति प्रपत्ति या तत्त्वनिष्ठा की चर्चा नहीं करते वे शायद बीच राह में हैं। विशिष्टाद्वैत शब्द का जो वास्तव अर्थ है उसमें निष्ठा ही प्रपत्ति है। प्रपत्ति से पहले अहंकार गलित नहीं होता। उसके बिना मोक्ष मार्ग में प्रगति नहीं होती। यह रहस्य तत्पर भाव से समझने योग्य है, सर्वोपयोगी है।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा प्राणियों के कर्मफलों की भूमिकायें बनाते और उपलब्ध कराते रहते हैं। मुमुक्षु का मोक्षपर्यन्त योगक्षेम वहन वही करते हैं। नये भगवान् के चेलों को समझना चाहिये कि अज्ञान निवर्तन के लिये श्री मन्नारायण स्वयं वेदव्यास बने थे। उन्होंने अज्ञान का कोई भी कोना दूसरों के लिये नहीं छोड़ा है। उनके बाद में बने सम्प्रदाय पन्थ या मजहब कहलाने वाले संगठन केवल कर्मफल भोग के लिए हैं। सामूहिक अज्ञान के अनुरूप ही मतपन्थ बनते हैं। हर एक संगठन का अपना एक मौलिक अज्ञान होता है जो धर्म जैसा आदर पाता रहता है। देश में थोड़े से चमत्कार से भगवान् बनने वालों की संख्या अब समाज में ऊब लाने लगी है। ये दिखावे के भगवान् भी कर्मफल भोग के साधन मात्र होते हैं। ये स्वयं को बेशर्मी से भगवान् कहते समय दायें बायें देखते भी नहीं कि श्रोताओं की मुखाकृति कैसी बन रही है। त्रिपाद विभूति से लीला विभूति में कोई नहीं आता। वहां कोई सर्वावतारी नहीं होता। अनपढ़ लोग परमधाम से भगवान् के पृथिवी पर उतरने की बात करते हैं। अनपढ़ों में कोई भगवान् भी निकल आता है। नाना अवतारों के लिये तो भगवान् स्वयम् मायामय विराट् रूप धारण करते हैं। देखिये भागवत 1/3/5// त्रिपाद विभूति तो कभी अपकर्ष की स्थिति में नहीं आती **'त्रिपाद् अस्यामृतन्दिवि'** तमोमय

प्रकृति मण्डल में उतरना, क्षुद्रों से संघर्ष करना निकृष्ट अवस्था ही है। अवतार शब्द का माने भी उतरना यानी अपने स्तर से नीचे का काम करना ही है। सारे विश्व को संकल्प मात्र से धारण कर रहे भगवान् बालक बनकर एक पहाड़ उठा कर लोगों को चकित करें यह अवतार ही तो है। मक्खन चुराकर भागना, छिपना, माता की छड़ी देखकर डरना, रोना, बगुला मारना, गदहा मारना, जरासन्ध से भागना, यवन से भागना, नाना प्रकार से अपनी अशक्तियां प्रमाणित करना या गुफा में सो रहे भक्त मुचुकुन्द के पास जाना, वस्त्र हरण, रासलीला आदि कार्य सामान्य दृष्टि से भगवान् का छोटापन ही तो है, दया से भी यदि यह सब उन्होंने किया तो छोटापन ही है। भक्तानुग्रह कातर भगवान् की ऐसी लीलाओं को ही अवतार कहा जाता है। संसार अवस्था में ही ब्रह्मलोक से भी ऊपर का विपुल ऐश्वर्य पाने और भोगने में सक्षम जीव अपने कर्मों से जब कृमि कीट आदि रूप धारण करके पृथिवी पर घूमते हुए दिखते हैं तो उनकी अनन्त ज्ञानानन्दमय वास्तव अवस्था का ध्यान करके उनका जीवन स्तर उन्नत करने के लिये भगवान् भी कोई पशु या मनुष्य बन कर उतर पड़ते हैं। यह भगवान् का महान् गुण है। फिर भी त्रिपाद विभूति से नहीं उतरते। उतरने के लिये प्रकृति मण्डल में ही महत्तत्त्वादि प्राकृत परिणामों से युक्त विराट विग्रह धारण करते हैं। जगत् के सारे कार्य कलाप का निर्वाह उसी से होता है। भागवत पढ़ने की आज्ञा गुरु ने दी है इससे गुर्जर साधु यह तथ्य स्वीकार करेंगे और अपने गुरु को विफल उपाधि सर्वावतारी से जोड़ना छोड़ देंगे।

अपने गुरु को भगवान् मानकर प्रतिमा बना कर कोई पूजे, चरणोदक ले, साष्टांग प्रणाम करे, यह उत्तम बात है, उन्हें साक्षात् नारायण कहे यह मोक्ष के लिये और ही उत्तम है किन्तु गुरुभक्ति के चक्कर में पड़ कर या गुरु की कोई बात ठीक से न समझ पाकर या गुरु की ही किसी मानवी भ्रान्ति को आधार बनाकर या किसी बाहरी दम्भ की धारा में बहता हुआ कोई व्यक्ति या संगठन जब नारायण विष्णु को ही संसारी जीव समझने लगे और कहा करे कि विष्णु को मेरे गुरु मुक्ति देंगे, इसके लिये उन्हें मेरे गुरु सर्वावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण का शिष्यत्व स्वीकार करना होगा तब समझना चाहिये कि ये लोग भारतीय संस्कृति के विरोधी संगठनों से प्रभावित हैं और इन्हें मोक्ष की इच्छा है ही नहीं बल्कि भारतीयता का समूल

नाश करने पर तुले हैं। तब इनका भारतीय वेश भारतीयता के उच्छेद के उपकरण के सिवा और कुछ नहीं है ऐसा मानकर इनके साथ यथोचित बर्ताव करना होगा। यदि कोई भगवान् विष्णु को संसारी जीव समझे या संसारी जीवों के तुल्य समझे या बोले तो समझना चाहिये कि इसे भारतीय ग्रन्थों से भ्रान्ति नहीं हुई है बल्कि यह एक सुनियोजित चिरन्तन षड्यन्त्र है जो तिलक माला जनेऊ के साथ अनादि विश्व कल्याणमय वैदिक मार्ग का लोप करने के लिये जारी है।

***

गुरु मानने से हानि लाभ

यस्य नास्ति स्वयम्प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

निजी प्रज्ञा के अभाव में गुरु का पढ़ाया शास्त्र भी विफल ही रहता है। जैसे गुरु ने सन्धि और समास के नियम पढ़ा दिये। भाषा का सामान्य ज्ञान भी करा दिया। शिष्य ने स्वयं को कृतार्थ मान लिया। अब उसको 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' का अर्थकरना पड़ा तो कर्ण+एभिः विच्छेद करके इन कानों से ऐसा अर्थ निकाल लिया। कर्ण शब्द की विभक्ति का लोप मान लिया। गुरु ने समास में विभक्ति का लोप बहुत बार बतलाया है। अब किसी योग्य ने उसे सही रूप समझा कर वास्तव अर्थ बतलाना चाहा तो दुर्विदग्ध होने से उसकी अनसुनी करके उसकी अवहेलना करने लगा। उसका मानना था कि मेरे गुरु से बढ़कर कौन है, यह कौन होता है मुझे समझाने वाला। उक्त योग्य व्यक्ति ने 'परशिष्यं न बोधयेत्' यह सूक्ति नहीं पढ़ी थी। जो किसी दूसरे को अपना गुरु मान रहा हो उसे कुछ नहीं बतलाना चाहिये, जिज्ञासु को ही बतलाना चाहिये।

मानव की सबसे बड़ी पूंजी होती है उसका तत्त्वदर्शन, देवताओं की भी पूंजी वही होती है, परमात्मा की भी पूंजी तत्त्वदर्शन ही है, उनके सारे गुण उस पूंजी के ही परिणाम हैं। ब्रह्माजी को ब्रह्मज्ञान हुआ वेद पढ़ने से, इसी से सृष्टि रचना में वे सक्षम हुए। वेद पढ़ा उन्होंने परमात्मा के केवल संकल्प से। ब्रह्मा जी को परमात्मा का अस्तित्व मानना पड़ा वेदोक्त होने से, न कि साक्षात्कार से। जीव या ब्रह्म कोई भी प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य नहीं है। जो लोग ब्रह्म के प्रत्यक्ष और

साकार होने का भ्रम पाल रहे हैं वे अपने माने हुए गुरु के हाथ का खिलौना बने हुए हैं। गुरु ने चेलों को पुरुषसूक्त से और 'चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा' इत्यादि मन्त्रों से ब्रह्म का परिचय नहीं दिया है। कह दिया कि मैं ही भगवान् हूं, मेरा ही दर्शन स्मरण चिन्तन ध्यान किया करो, इसी से मुक्ति मिलेगी, निर्विकल्प समाधि हो जायेगी, इसके अनन्तर पर ब्रह्म की सेवा पूजा जारी रखना, वह सेवा पूजा ही वास्तव में मुक्ति है, जो लोग शरीर रहते मुक्ति न मिलने की बात जानते मानते बोलते हैं वे नास्तिक हैं। अनपढ़ चेले नास्तिक कहे जाने के डर से सामने के मर्त्य को पर ब्रह्म नारायण पुरुषोत्तम कहते मानते हुए जमीन पर उसके लिये बहुत बार लोटते रहते हैं। इसी को साष्टांग प्रणाम कहते हैं। किन्तु साष्टांग और प्रणाम शब्दों के अर्थ इनके स्वयम्भू गुरु भगवान् जानते थे यह पता नहीं चलता। उन्होंने अपने चेलों को विष्णुभक्तों की नकल सिखलायी थी ऐसा माना जा सकता है। अपना सहज अज्ञान दूर किये बिना किसी सर्वज्ञ को भी गुरु मान लेने से मुक्ति नहीं मिलती। फिर गुरु यदि स्वयं ही अल्पज्ञ हो तो क्या कहना है। इस तरह किसी भी अज्ञानी व्यक्ति का गुरु चाहे कोई भी हो वह परमार्थ पथ में उसका साधक न होकर बाधक ही रह जाता है। सहजानन्द ने सत्संग के अवसरों पर बहुत बार शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही ज्यादा महत्व दिया है, इससे उनकी गोष्ठी के सदस्यों की संख्या बढ़ती रही। किन्तु समर्पण के साथ शास्त्र ज्ञान से होने वाली भक्ति और समर्पण के भी बिना केवल पूजा की नकल वाली भक्ति में जो अन्तर होता है उस पर उन्होंने अपना और चेलों का भी ध्यान नहीं जोड़ा। उन्होंने शास्त्राभ्यास और सत्संग में जो अन्तर होता है वह स्वयं ही नहीं समझा तो चेलों को क्या समझाते। उनकी भाषा बतलाती है, उनका समग्र चरित्र भी बतलाता है कि उन्होंने साधुओं के सत्संग से ही सारा ज्ञान अर्जित किया था, उन्हें किसी शास्त्रज्ञ आचार्य से कोई तत्त्वनिष्ठा नहीं मिली थी। शास्त्र संस्कार शून्य उनके अनुयायी यह तथ्य नहीं समझ पायेंगे। अल्पज्ञ अधिक ज्ञान वालों को गुरु भगवान् मानते ही हैं पर यह नहीं समझ पाते कि निर्विवाद भगवान् भी पृथिवी पर कितना झूठ बोले हैं एवम् मूढ़ों को तत्त्व बोध कराना कितना मुश्किल है। एवम् अपनी प्रज्ञा चलाये बिना अपना परमार्थ अपरीक्षित गुरु के भरोसे छोड़ देना कितना घातक है। सहजानन्द को कोई भगवान् कहे और मूर्ति की

आरती उतारे यह तो सम्भव है किन्तु वे वेदान्तविद् थे या ब्रह्मनिष्ठ थे या लोकैषणा से मुक्त थे यह उनकी जीवनी से या उनके वचनों से कोई सिद्ध नहीं कर सकता, तब उनके चेलों और भक्तों की सद्गति का क्या भरोसा होगा।

***

भगवान् मानने से हानि-लाभ

सहजानन्द ने स्वयं को बहुत बार पूर्ण विश्वास के साथ भगवान कहा है। उनका विश्वास था कि कोई मेरे भगवान् होने की बात का विरोध नहीं करेगा। यह विश्वास उन्हें स्थानीय संगठन से मिला होगा। राम लीला कृष्ण लीला के राम कृष्ण की भांति उनकी मूर्तियां आज भी पूजी जा रही हैं। रामलीला कृष्ण लीला के राम कृष्ण की उपयोगिता जितनी मानी जा रही है उससे अधिक सहजानन्द में कुछ नहीं था। लीला के कृष्ण भी गीता का उपदेश देते रहते हैं। स्वयम् अपण्डित होने से सहजानन्द ने शतानन्द को पण्डित मान लिया था और उनसे कई ग्रन्थ लिखवाये। शतानन्द ने अपनी मोटी पुस्तक 'सत्संगि जीवनम्' में 'शिक्षापत्री' नाम का एक सन्दर्भ जोड़ा है और उसे सहजानन्द की पण्डिताई कहा है। यदि सहजानन्द को श्लोक बनाना आता था तो क्या कारण है कि 262 प्रवचनों के अवसरों में या अन्य 11 प्रवचनों में एक भी अनुष्टुप रचने का उत्साह उन्हें नहीं हुआ। पण्डित, लेखक, गायक, कवि, कामी और चोर कभी भी मौका नहीं चूकते। मौका चूकने पर उनका नाम कट जाता है। शिक्षापत्री को सहजानन्द के आदेश से शतानन्द का लिखा गया माना जाता तो ज्यादा अच्छा होता किन्तु वह तो एक हलफनामा है, उसमें अपना ही हस्ताक्षर होता है। इसमें दूसरे को लेखक ठहराने से गुरु का अपकर्ष आता। पद्यरचना में अक्षम भी पण्डित होते हैं। शतानन्द श्लोक तो रच लेते थे पर त्वरा में बहुत अशुद्धियां 'सत्संगि जीवनम्' में रह गयी हैं। संगठन में यदि दूसरे भी सक्षम होते तो सुधार कर छपाई करते। बाहरी पण्डितों से सुधरवाना अब अच्छा नहीं होगा, अब तो स्वामिनारायण का वेदान्त भी चल पड़ा है। संगठन वालों को सहजानन्द वेदान्त ही कहना चाहिये था। स्वामी या नारायण तो उनका नाम ही नहीं था। हर एक संगठन का वेदान्त कोई अलग नहीं होता। वह तो हवा ओर

आकाश की तरह सर्वसाधारण दर्शन है। शांकर वेदान्त, रामानुज वेदान्त, वल्लभ वेदान्त, रामानद वेदान्त, ऐसे प्रयोग शशश्रृंग भस्म और गगनारविन्द सौरभ जैसे अति अर्थहीन शब्दाडम्बर हैं। उनकी नकल करके सहजानन्द संगठन ने कोई विद्वत्ता प्रदर्शित नहीं की है। यह तो गुब्बारे के लिये दौड़ रहे बच्चों में सब से पीछे लगे नन्हे मुन्ने की भूमिका है। फर्जी पंचतत्त्ववाद और निरक्षर अक्षरब्रह्म कोई अनोखा आविष्कार नहीं है। अन्धों की लकुटी खोती है, वे नयी लकुटी किसी के हाथ से पा जाते हैं। वे स्वयम् उसका आविष्कार नहीं करते। आंख वालों के सहारे ही अन्धे चलते हैं। फिर अन्धों को ज्यादा चलने की आवश्यकता भी क्यों हो। आंख वाले उन पर अनुग्रह रखते ही हैं। स्वामिनारायण सहजानन्द ने **'मतं विशिष्टाद्वैतम्मे'** जो कहा था वह बिना समझे कहा था। समझने की क्षमता उन्हें नहीं थी। अब ईर्ष्यालु उनके चेले उसे भी छोड़ कर पानी पीने का फूटा गिलास लिये बड़े गर्व से चल रहे हैं। बहुत अज्ञानी किसी महा अज्ञानी को धोखे में जब भगवान मान लेते हैं तब क्या होता है? यही जो हो रहा है, जो भर्तृहरि ने बहुत पहले ही कह दिया है– **'विवेकभ्रष्टानाम् भवति विनिपातः शतमुखः'**

दो सौ वर्षों में ही संगठन पांच भागों में बंट चुका है, इस संगठन के भगवान् के ध्यान में भी जो नहीं था वह आज प्रमुख कहा जा रहा है, न केवल कहा जा रहा है, प्रमुख है भी वह, गुणों से, वैभव से, ऐश्वर्य से और उस प्रभाव से भी जो कल्पित अक्षर में कल्पित था, अब कौन कहेगा कि वेदों में अक्षर नही है, लोग बोलेंगे कि नहीं था तो आया कहां से? उक्त भगवान् ने जिन दो को प्रमुख बनाना चाहा था। उनमें एक दिल्ली (हस्तिनापुर) में ही लम्बे समय तक के लिये अपनी गद्दी छोड़कर अज्ञातवास कर रहा है। भगवान् को सत्य संकल्प कहा जाता है। क्या उक्त भगवान् का यही संकल्प रहा होगा?

माया को ही मानते ब्रह्म जो हैं, वे माया से छूटते आज क्यों हैं,
देखो, पासे साम्ब है या नहीं है, जन्मा है तो नाश भी तो सही है।
देखो, कैसे टूटती ब्रह्मविद्या, कैसे चारों ओर छायी अविद्या,
माता से जो दूर हैं वे मरेंगे, सच्चे भक्त श्रीनिवासी तरेंगे।

***

शास्त्र ही प्रमाण हैं

स्वामिनारायण के वचन कई प्रकार के हैं। कहीं पर वे स्वयम् को पूर्ण विश्वसनीय गुरु सिद्ध करने लगते हैं और कहीं पर पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम सिद्ध करना चाहते हैं। कहीं भगवान् कृष्ण की ही उपासना ध्यान पूजा प्रणाम आदि के विधान करते हैं और कहीं पर स्वयम् को राम-कृष्ण आदि से अधिक उपकारक समझाना चाहते हैं। उनके परस्पर विरोधी वचन तो कम ही हैं, उनमें समन्वय भी संभव है किंतु जो भी वचन हैं वे निर्णायक कम हैं। उनसे भ्रांति की संभावना ज्यादा है। उनके अधिकांश साधु भ्रम में ही रहते हैं। अपने किसी कल्पित बड़प्पन में खोए रहते हैं, इससे उनसे अपराध भी होते रहते हैं। स्वामिनारायण ने थोड़ा 'अहम् ब्रह्म अस्मि' का पाठ मायावादी साधुओं से सीखा और वैष्णव साधुओं से अन्तर्यामी का परिचय लिया और अपनी पूजा के उपायों में खुद लग गए। उन्हें स्वरूप में निष्ठा की चिंता बहुत कम थी, अपनी पूजा की भूख ज्यादा थी। इसी से उनके चेले उनकी मूर्ति को बार-बार साष्टांग प्रणाम का प्रयास करते हैं किंतु प्रणाम का आठवां अंग उनसे बन नहीं पाता। उनके गुरुदेव को ही वह विदित नहीं था। तत्त्व दर्शन और अंधश्रद्धा में अंतर स्पष्ट झलकता है। यद्यपि गत दो सौ वर्षों से यह संगठन वेदान्त बनाने में लगा है पर जब हजारों प्रौढ़ ग्रंथ लिखकर भी हजार वर्षों में भी भ्रान्त पण्डित नया वेदान्त नहीं बना पाए तो ये कौन-सा करिश्मा कर लेंगे। पूर्व दुर्वासना से जब सत्य स्वीकार नहीं होता तो हजारों वर्षों तक भटकाव जारी रहता है। अपना एक अलग सत्य खड़ा करने की ललक मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता होती है। क्योंकि सत्य तो एक ही है, उसे समझने का हार्दिक प्रयत्न जारी रखना चाहिए न कि उसकी झूठी पहचान बढ़ाते जाना चाहिए। मानव के अनादि तीस धर्मों में सत्य की पहचान में प्रयत्न प्रमुख है। इस धर्म के प्रति विमुखता अपनी मानवता पर पूर्ण विराम लगाना है। इससे दुबारा मानव योनि मिलने की संभावना मिट जाती है। प्रस्तुत नये गुरु के चेले इधर उदासीन हैं।

अस्तु, स्वामिनारायण के भक्तों को मिल बैठकर स्वयम् यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि हम उन्हें भगवान् होने से गुरु मानते हैं या गुरु होने से भगवान् मानते हैं। यदि वे यह सोचते हों कि हम

तो उनके वचनों से ही उन्हें भगवान् और गुरु दोनों मानते हैं, दो में कोई भी पक्ष दुर्बल नहीं है तो उन्हें तटस्थ भाव से पुनः समीक्षा कर के तय करना चाहिए कि उनका गुरुत्व अधिक प्रभावी है या भगवत्त्व। फिर यह भी सोचना चाहिए कि यदि वे अपने वचन से ही भगवान् हैं तो स्वयम् को भगवान् कब समझे। यदि सदा से जानते हैं तो अपने अतीत और भावी उन अवतारों का वर्णन क्यों नहीं किया, जो पुराणों में वर्णित नहीं हैं।

गुजरात की भूमि ही ऐसी है जहां थोड़ा चमत्कार दीखने पर कोई भगवान मान लिया जाता है, फिर वहां भगवान् से संबंधित पुरानी मान्यतायें स्वयम् मिट जाती हैं। स्वामिनारायण की बहुत प्रभाव वाली भूमि बड़ताल से पन्द्रह किलोमीटर दूर नड़ियाद है, वहां कोई अपरिचित संत पधारे और उनके कई चमत्कार दीखने लगे, उन्होंने अपना नाम सन्तराम बताया, साधु-संतों की सेवा में बहुत जोर देते थे, वहां सेवा खूब होने लगी। उन्होंने स्वयम् को कभी भगवान् नहीं बतलाया, न अक्षर ब्रह्म जैसा कुछ नया तत्त्व बतलाया। फिर भी वहां निकट के भी पुराने स्वामिनारायण खो गए और सन्तराम केवल सत्य मान कर पूजे जाने लगे। उनकी समाधि बहुत भव्य बनी है। आगरे का ताजमहल उसके सामने फीका है। वहां आज भी सभी सम्प्रदायों के साधु-संतों को पूरे आदर भाव से रखा जाता है, नया-नया अच्छा भोजन श्रद्धा के साथ परोसा जाता है। थाली नौकर मांजते हैं। सामान्य गृहस्थों को भी बिना परिचय पूछे खिलाया जाता है, उनकी संख्या पांच सौ से ज्यादा रहती है। वहां कहीं नहीं लिखा है कि सन्तराम भगवान् हैं बल्कि यह लिखा है कि सन्तराम ही सत्य हैं। वहां की जनता उनकी समाधि पर दर्शन और प्रणाम के लिए भीड़ लगाए रहती है। धन की वहां कोई कमी नहीं है। रुपये चढ़ाने को मना किया जाता है। बड़ताल में केवल अपने सम्प्रदाय का पक्षपात है, जबकि नड़ियाद में सम्प्रदाय पूछा ही नहीं जाता। कोई भी आदर्श वेष आदर से पूजा जाता है। विष्णु सहस्रनाम का अखण्ड पाठ समाधि के ऊपर सदा चलता रहता है। सन्तराम की जाति कुल गोत्र या सम्प्रदाय न कोई जानता है, न पूछता है, वहां बस यही माना जाता है कि सन्तराम ही सत्य हैं। उनके जीवन के सारे चमत्कार वहां दीवारों पर सुन्दर अक्षरों में लिखे हैं। वहां सन्तराम बिना कहे भगवान् माने जा रहे हैं। सत्य शब्द का माने तो भगवान् ही होता है।

वचनामृत के बहुत से संदर्भ ऐसे हैं जो स्पष्ट संकेत देते हैं कि ये वचन किसी प्राकृत व्यक्ति के ही हैं, किसी आत्मविश्वासी के नहीं हैं, भगवान् के तो हो ही नहीं सकते, साथ ही ये वचन प्रमाण भी नहीं हैं। उनकी सूची अन्यत्र प्रस्तुत होगी। स्वामिनारायण ने एक आचार्य की तरह वाद युद्ध में विपक्षों को पराजित और सहमत करके अपना कोई नया सिद्धांत स्थापित नहीं किया है बल्कि 'मतं विशिष्टाद्वैतम्मे' ऐसे कपटपूर्ण वचनों से और नाना देवी-देवताओं की स्थापना और पूजा के उपदेश रूप दम्भ से स्वयम् को भगवान् ठहराने की कुचेष्टा की है। उनकी प्रतिमा की पूजा धर्माभास या अपधर्म है, उसका कोई शास्त्रानुमोदित शुभ फल नहीं है।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥

मनु॰

किंतु यह तथ्य गुर्जर साधु स्वयं समझें तो अनिष्ट से बच सकते हैं। जब तक नहीं समझ पा रहे हैं तब तक अनिष्ट की धारा में स्वयम् बह रहे हैं। दूसरे के अपकर्ष की उनकी कल्पना उनकी ही भ्रान्ति सुदृढ़ करती है, उससे दूसरे लोग उद्बुद्ध नहीं होते। स्वयम् भ्रान्त स्वामिनारायण के वचन उद्बोधन का रूप नहीं ले पाये हैं।

वास्तव में किसी व्यक्ति को, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अतीत हो, भगवान् के रूप में स्वीकार करना, उसकी सेवा-पूजा करना, एवं उसके वचनों को वेदवत् प्रमाण मानना आत्म कल्याण मोक्ष का अव्यवहित साधन है या नहीं, परम्परा से साधन है या नहीं, वचनों में संशोधन परिवर्धन अपेक्षित हैं या नहीं इत्यादि बातों का निर्णय अनादि वैदिक बाङ्मय से ही सम्भव है। वेद किसी को मनमानी की छूट नहीं देता। एक ही वैदिक सम्प्रदाय मान्य है, दूसरा कोई नहीं। स्वामिनारायण के साधु यदि उनके वचनों को प्रस्थानत्रयी से हटकर स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं तो वे स्वयम् ईसाई, मुसलमानों के दर्जे में जा बैठते हैं। तब वे अपने मार्ग को वैदिक घोषित नहीं कर सकते। अपने मार्ग को वैदिक ठहराने के लिए उन्हें स्वामिनारायण को थोड़ा दूर से ही प्रणाम करना होगा। उन्हें अनादि श्रीमन्नारायण मानना होगा। अक्षर की नयी शिक्षा को बचपन में ही पूरी कर लेना होगा। स्वामिनारायण ने कुछ नया ढूंढ़ा और पाया, यह भावुकतापूर्ण कल्पना कहीं दबा कर छोड़ देनी होगी। सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक भारतीय ऋषि मुनि, योगी, संत और आचार्य शास्त्रों में जो नहीं ढूंढ़ पाए वह हमारे गुरु लाल बुझक्कड़ ने ढूंढ़ लिया है ऐसी मान्यता और प्रलाप त्रपात्याग से ही संभव है, किसी प्रमाण से नहीं।

अगर हिम्मत बड़ी हो तो, चलो तुम संग में मेरे।
कमर कस वेदशास्त्रों के, लगा लो तीन ही फेरे॥
न फूलो काठ पत्थर से, न पगड़ी से न छापे से।
कभी के हट चुके हो तुम, सुपथ से, आप आपे से॥

***

अनादि राष्ट्रिय वेदान्त पढ़िये

वेदान्त विद्या मानव कल्याण का सर्वोपरि साधन है, क्योंकि यह समस्त मानव जाति के कल्याण के लिये प्रभु के निःश्वास रुप से प्रकट सारे वेदों का निष्कर्ष है। किसी भी ग्रन्थ का निष्कर्ष एक रूप में ही होता है, उसमें नानात्व ऐच्छिक हो सकता है, या मोह से, दुराग्रह से माना जा सकता है। स्वाभाविक, ऐच्छिक और कृत्रिम में बहुत अन्तर होता है। प्रथम के गुण दूसरे तीसरे में नहीं आ सकते। आजकल कुछ आचार्यों के नाम जोड़कर वेदान्त की अलग-अलग पहचान बनायी जा रही है। जिन आचार्यों ने कुछ श्रम किया है, लिखा है उनका नाम जोड़ना तो उतना नहीं खलता किन्तु जो लोग केवल भजन सत्संग सेवा आदि में ही लगे रहे, जिन्हें अपने नाम की भी इच्छा नहीं थी उनके भी नाम जोड़ कर समाज में भ्रान्ति फैलाना ज्यादा घातक है। मनुष्य अपने अहम् की वृद्धि के लिये सत्य से बहुत दूर हट कर भी खड़ा हो जाता है यह इसकी सहज पशुता है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि पुराना हर एक साधु या भजनानन्दी वेदान्त पढ़ा हो या उसका कोई अलग वेदान्त हो। ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि वेदान्त नहीं पढ़ने से भजन या उपदेश विफल होता है। ऐसा भी नियम नहीं है कि वेदान्त के सिद्धान्त जानने वाले शीलवान् या सदाचारी होते हैं। ऐसी स्थिति में अधिकार और फल समझे बिना कोई वेदान्त पढ़े या किसी को वेदान्ती मान ले तो वह एक विडम्बना ही होगी।

लौकिक वैदिक सारे वाक्य अपने सन्दर्भ प्रसंग के अनुरूप ही

अर्थ रखते हैं, मुक्तक वाक्यों के अर्थ भी कल्पित किसी प्रसंग के अनुरूप ही लिये जाते हैं। नानार्थक पद भी प्रसंग के अनुरूप कोई एक ही अर्थ दे पाते हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी वेदान्त वाक्य के इच्छानुसार पर्याय से दो अर्थ नहीं हो सकते। मायावाद यदि तर्क प्रमाणों से श्रुति विरुद्ध ठहर चुका हो तो फिर वह किसी नये विकल्प से भी श्रौत नहीं हो सकता। तर्क प्रमाण शाश्वत होते हैं वे सदा ही अच्छे अर्थों के साधक और असद् अर्थों के बाधक होते हैं। वेदान्त कभी भी शांकर या रामानुजीय नहीं हुआ है। वह तो ईश्वरीय है, ईश्वरीय ही रहेगा। जो लोग अपनी गुरु परम्परा में प्रथम गुरु ईश्वर को नारायण आदि नामों से घोषित करते हैं वह वेदान्त को शांकर या रामानुजीय नहीं कहेंगे और जो लोग ऐसी विरुद्ध पहचान जोड़ा करते हैं वे मौखिक रूप से भले परमात्मा को वेदान्त का प्रर्वतक कहें पर हृदय से स्वयं को ही उसे कोई नया रूप देने का श्रेय लेना चाहते हैं। ऐसे लोगों को देख कर ही – **"कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव"** यह कहावत प्रचलित हुई है।

वास्तव में वेदान्त अनादिकाल से एक रहा है आज भी एक है, आगे भी एक ही रहेगा। शांकर वेदान्त रामानुज वेदान्त का उद्घोष अपण्डितों का केवल समुद्रघोष है। वेदान्त के साथ परवर्ती दूसरे आचार्यों एवं साधुओं का नाम जोड़ना लकड़ी के घोड़ों पर दौड़ने वाले बच्चों की क्रीड़ा से अधिक कुछ भी नहीं है। गुजरात में नया खुला विश्व विधालय स्वामिनारायण वेदान्त की परीक्षा चालू करके प्रमाण पत्र देने लगा है, उसका वह कार्य स्वामिनारायण साधुओं की अलग मीठी खिचड़ी पकाने के दुर्व्यसन से भिन्न कुछ नहीं है। उन्होंने अपने तथाकथित स्वामिनारायण को जितना बढ़ा रखा है वह तिल के ताड़ से भी कुछ बढ़कर ही है। किसी भी व्यक्ति को स्वामिनारायण नाम नही मिला है। नारायण नामक किसी साधु को स्वामी कहा गया हो यह सम्भव है। **"अवतारिणे स्वामिनारायणाय स्वाहा"** कहकर अन्न घृत आदि जलाना केवल अपराध और नकल है। अविहित कर्मो का फल नहीं मिलता, वे यदि हिंसा रूप होते हैं तो उनका दण्ड मिलता है।

स्वामिनारायण वेदान्त कहकर कुछ अर्ध शिक्षित साधुओं ने भ्रान्ति फैला रखी है। स्वामिनारायण ने वेदान्त पर कुछ नयी खोज की है,

उन्होंने वेदान्त पढ़ा था यह मानना भी भ्रान्ति है। उन्होंने वेदान्त पर कुछ नयी खोज की है यह अज्ञान और मोह से बनी दूसरी भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति प्राचीन अध्यात्म साधनाओं पर विफलता का आरोप है। प्राचीन ऋषि मुनियों व्यास पराशर आदि महान् आचार्यों पर अज्ञान थोपना एक अपराध है। अक्षर ब्रह्म नामक एक नया तत्त्व ढूंढ़ निकालने का ढ़ोल पीटना सजी नास्तिकता का एक नया हथकण्डा है। **"अक्षरम् ब्रह्म परमम्" "ब्रह्म विदाप्नोति परम्"** आदि संदर्भो पर सही दृष्टि न बना पाने की एक कुशिक्षा है। देश में ज्ञानलव दुर्विदग्धों की कभी कमी नहीं होती। ये तो कुछ कुछ नया ढूंढ़ते ही रहते हैं, स्वामिनारायण यदि साक्षात् आदि ऋषि नारायण हों और स्वयम् ही अपने मुखारविन्द से यह नया तत्त्व उगला हो तो यह मानना होगा कि सृष्टि के आरम्भ से किया उनका सारा तप व्यर्थ ही गया। क्योंकि तप का आधारभूत उनका तत्त्व दर्शन तो अब खुला है। छप्पैया से आया नीलकण्ठ वर्णी जब गुजरात में पायजामा पहनने लगा और अपने द्वारा स्थापित पाषाण प्रतिमा को अन्न भोग लगा कर स्वयं प्रसाद पाने लगा तभी यह नयी अवैदिक बुद्धि उसकी खुली है। उसका यह महा प्रसाद व्यवसायी बुद्धि वाले गुजराती साधु अपनाने लगे हैं यह स्वाभाविक है। यहाँ एक प्राचीन सूक्ति है–

चित्रं चित्रम् बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं,
जातो दैवादुचितघटनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानाम् परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया,
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः॥

हम यह कह सकते हैं कि धन्य हैं अपने मन्दिरों में विराजमान स्वामिनारायण और धन्य हैं वे साधु जो उन्हें वेदादि विद्याओं के आचार्यों से और भगवान् के सारे अवतारों से भी ऊँचा दर्जा देते हुए स्वयं धन्य हैं। किन्तु उनकी शिक्षापत्री की भाषा से उनका कोई वैदुष्य नहीं झलकता, न ही उनके वचनामृत नामक वचन संग्रह से यह समझ में आता है कि इनमें पतञ्जलि जैसा दृढ़ आत्मविश्वास है, वे तो अपनी बातों की दृढ़ता के लिये साधुओं का शपथ खाते हैं। आत्मविश्वासी कोई भी व्यक्ति अपनी बातों के लिये स्वेच्छा से शपथ नहीं खाता। वचनामृत ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है जिसे वेदान्त का ग्रन्थ माना जा सके। फिर भी उसे अभी वेदान्त की परीक्षा में में पाठ्य बनाया गया है। यह है गुजराती पाण्डित्य की विडम्बना।

गुजरात ने वेदान्त पर या धर्म पर कोई नवीन कल्याणमय बिन्दु नहीं ढूंढ़ निकाला है। स्वामी कहा गया कोई साधु वेदान्त का पण्डित नहीं था, उसने तो शांकर मत के साधुओं से सुन रखा था कि विष्णु ईश्वर को ही कहते हैं, ईश्वर माया से बनता है। ऐसी मान्यता केवल अज्ञान से नहीं बल्कि वेदों के प्रति द्वेषभाव से बनती है। वेदों का प्रचुर परिशीलन होने से यही समझ में आता है कि पर ब्रह्म परमात्मा को ही अपनी अचिन्त्य शक्ति से सारे तत्त्वों में शुरु से ही समाया होने से विष्णु कहते हैं। विष्णु के प्रति अनास्था होने से विष्णु पर आधारित विशाल वाङ्मय और वैष्णव धर्म पर अनास्था होती है। तब स्वामिनारायण का वैष्णव तिलक, भगवान् राम और कृष्ण की प्रतिष्ठा एवं नर नारायण की प्रतिष्ठा और पूजा केवल लोक संग्रह के लिये दम्भ मात्र रह जाता है। एक ओर तो स्वामिनारायण **"मतं विशिष्टाद्वैतम्मे"** कहते हैं, दूसरी ओर वल्लभ का तिलक और पूजा पद्धति अपनाने का दावा करते हैं और तीसरी ओर वल्लभ के इष्ट राधाकृष्ण को अपने से भी निकृष्ट ठहराते हैं, स्वयं को परात्पर ब्रह्म की प्रत्यक्ष साकार मूर्ति कहते हैं एवं शांकर दृष्टि के अधीन पञ्चतत्त्व मानते हैं, पञ्चदेवता पूजन का भी प्रचार प्रसार करते हैं। यह उनकी कौन सी ब्रह्मोपासना है और उनके भक्तों का यह कौन सा दावा है कि हमारे भगवान् गुरु ने नया वेदान्त ढूंढ़ निकाला है। यही सब समझ कर भागवत माहात्म्य में भक्ति कहती है कि "गुर्जरे जीर्णतां गता" गुजरात में भगवद्भक्ति की हालत मरणासन्न जैसी हो गयी है। वर्तमान काल में स्वामिनारायण ने भी यही श्रेय लिया है। अपना दम्भ छिपाने के लिये ही उन्होंने स्वयं को भगवान् कहा है। गुजराती विवेक का उपयोग कम करते हैं उनके सामने जो पड़ता है उसे झट अपना लेते हैं।

वेदान्त वह विद्या है जो सारे भारत को ही नहीं बल्कि सारे विश्व को अपने में समेटने की सहज और अद्भुत क्षमता रखती है। विश्व के वर्तमान और सम्भावित सारे मतभेदों को क्षण भर में मिटा सकती है। यह वह परमार्थ सत्य प्रस्तुत करती है जिसे लोग बड़ी श्रद्धा से अपनाना चाहते हैं। स्वामिनारायण संगठन के भगवान् बने नेता के हृदय में कुछ और ही तरंगें उठ रही थीं इससे वह वास्तव अनादि वेदान्त उसकी समझ में नहीं आया। विडम्बना यह है कि उसके अनुयायी उसकी आरती तो उतारते हैं पर उसके वचनों की तटस्थ

समीक्षा में न उतर कर उनका केवल वेदवत् पारायण करते रहते हैं। गुजराती स्वयं विद्या अर्जित नहीं करते बल्कि झूठे प्रदर्शनों और धन के बल से बाहरी विद्वान बुलाकर उनसे गलत सही लिखवा कर पुस्तकें छपवाते और उनकी ही आरती उतारते हैं। धर्नाजन छोड़ विर्द्याजन में अपना अमूल्य समय देना वे उचित नहीं समझते। इसी से गान्धी जी उदार दृष्टि रखते हुए भी राष्ट्रिय एकता भी स्थापित नहीं कर पाये। विश्व एकता तो उनकी दृष्टि से बहुत दूर थी। हमारी अति प्राचीन भारतीय वेदान्त विद्या में सारे विश्व को अनायास एक सूत्र में पिरोने की सहज कुशलता है **"यत्र विश्वम्भवत्येकनीडम्"।**

आधुनिक भारतीय मनीषियों की प्रज्ञा के कुएँ में कुछ ज्यादा ही भाँग पड़ गयी है इससे वे विश्व कल्याणमयी अनादि एक ब्रह्म विद्या को आधुनिक आचार्यों शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ आदि के एवं निम्बार्क , रामानन्द, चैतन्य आदि निरपेक्ष सन्तों के भी नाम जोड़ जोड़ कर कुछ कुछ फर्जी बदलाव लाकर मंगलमय व्यापक रूप को संकीर्ण बनाते जा रहे हैं। इसकी देखा देखी अब गुजरात भी करने लगा है। **"गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः"।** किन्तु आज विश्व एकता की कुछ ज्यादा ही आवश्यकता आ पड़ी है इससे यदि प्राचीनों का ध्यान इधर न गया हो तो भी आधुनिक लोगों का ध्यान आत्महित के लिये भी इधर मुड़ना चाहिये।

विश्व एकता के कुछ सूत्र ये हैं। विश्व का प्रत्येक मानव अपने ऊपर किसी अचिन्त्य शक्ति का नियन्त्रण अनुभव करता है। उसके अनुभव को वेदादि शास्त्र का बल भी मिलता है। अपनी सारी समस्याओं के हल के लिये उस शक्ति को अधिक से अधिक जानने और समझने की आवश्यकता भी वह समझता है। समझाने वाला मिलने पर उसे बड़े मनोयोग से वह समझता भी है। समझने के क्रम में पूर्व वासना के विरुद्ध बात आने पर विरोध के परिहार में ही उसका मन उलझा रहता है। आचार्यगण इस उलझाव को दूर करते हैं। उलझाव मिटाने की प्रक्रिया जितनी हृदयग्राही होती है, उतने ही प्रिय होते हैं आचार्य , एक योग्य आचार्य सारे विश्व को एक ही ज्ञान सूत्र में बान्ध सकता है। वह विश्व के सारे अधूरे चिन्तनों को पूर्णता प्रदान करने में सक्षम होगा। वह सारे सम्प्रदाय प्रर्वतकों के मर्म जानता हुआ उनकी अच्छाइयाँ संकलित करके सद्भावना का एक अतिशय रमणीय

गुलदस्ता तैयार कर सकता है। वह सारे विश्व को प्रिय होगा। उसके लिये सारा विश्व एकत्र हो जायेगा। विशेष जानकारी के लिये पढ़िये मेरा लिखा – **परमार्थप्रतिष्ठानम्**।

***

सम्प्रदाय दर्शन

प्रमाणपूर्वक, हिताहितसमीक्षापूर्वक एवं पात्रतापरीक्षापूर्वक दिए गए या मिले हुए कल्याणकारी विधान को सम्प्रदाय कहते हैं। कल्याणकारी विधान ही मुख्य सम्प्रदाय होता है किन्तु अन्य विधानों में भी इस शब्द का गौण प्रयोग होता है। विधाता के द्वारा रचित सामान्य विशेषात्मक जगत् में विशेष धर्म की पहचान करके उसका अगल वर्ग बनाना मानव का सहज स्वभाव है। सामान्य लोग अपने में विशेष धर्म लाकर स्वयम् विशेष बन सकते हैं किन्तु ऐसा नहीं होता बल्कि विशेष धर्म के प्रति उदासीनता या तामसी भावना ईर्ष्या आदि हुआ करती है। तब यथार्थ विशेष के बदले एक अयथार्थ विशेष सूझने लगता है, उसके प्रति सहानुभूति और आत्मीयता से एक नया संगठन तैयार होकर स्वयम् को सम्प्रदाय कहना जारी करता है। तब सम्प्रदाय का माने संगठन ही होता है क्योंकि उसका आधार कोई मंगल विधान नहीं होता। मानव का सहज रजोगुण उसे कल्याण पथ से दूर-दूर ही रखता रहता है। इस तरह नये सम्प्रदायों के उदय में ईर्ष्या असूया स्पर्धा और दोषों के प्रति सहानुभूति कारण बनती है।

पशुपाल अपने पशुओं के लिए चारे की व्यवस्था अवश्य करता है। जो पशु जैसा चारा चाहता है उसके लिए वैसा ही चारा वह जुटाता है, उपजाता है, बनाता है, ताकि पशुओं को कोई अभाव न खले। सारे संसारी चेतन 'अहम्' के पाश में बंधे होने से पशु कहे गए हैं, इस पाश के धारक एवं नियामक परम सत्ता को पशुपति कहा गया है। पशुपति ही परब्रह्म परमात्मा है। परमात्मा का एक सीमित रूप शिव भी पशुपति कहा जाता है। सारे संसारी चेतन अपने शुद्ध चैतन्यमय रूप में यदि एक ही हैं और उनके पाशों का बनना-बिगड़ना सुधरना आदि यदि किसी एक ही नियम पर चलता है और पाशों से छुटकारा भी यदि किसी एक ही रूप में चाहा और पाया जाता हो तो छुटकारे का उपाय भी कोई एक ही होगा जो सृष्टि के आरम्भ से ही जारी

होगा। फिर उस उपाय को क्रम से समझने और अपनाने की प्रक्रिया भी कोई एक ही होगी। उस प्रक्रिया को चिरन्तन तपःपूत ज्ञान दृष्टि से बादरायण व्यास जी ने पूर्ण तटस्थ भाव से देखा और ब्रह्मसूत्र, महाभारत एवं अष्टादश महापुराणों के रूप में संकलित किया। ये तीनों वाङ्मय व्यास जी से पहले भी किसी न किसी रूप से रहे हैं, उन्हें वेदव्यास जी ने समुचित रूप से सम्पादित किया है ऐसा संकेत इन्हीं वाङ्मयों के संदर्भों से मिलता है।

ऐसी स्थिति में मोक्ष तत्त्व का विशद बोध देने वाली इस अनादि वैदिक वाङ्मय की परंपरा से हटकर कोई भी सम्प्रदाय क्या होगा? वेद से अधिक पूर्णता और अधिक तत्त्वग्राहिता कल्पना से परे है। इसी से अपनी अपनी उत्प्रेक्षाओं को बाद वाले मनीषियों ने श्रुतिसम्मत ठहराने का प्रयास किया है। उनमें बहुत से प्रयास इतिहास से ओझल हो गए, कुछ अंतिम सांस ले रहे हैं किंतु बहुत से नये पाखण्ड शावक अपने सुप्रभात के गीत सुन रहे हैं। पहचान सबकी हो जाती है किन्तु पाखण्डियों के ही समाज में कौन किसे कैसे पहचाने? दम्भ पाखण्डों से किसी का कोई वास्तव हित नहीं होता, कुछ क्षुद्र स्वार्थ अवश्य सिद्ध हो जाते हैं, स्वार्थ बुद्धि दम्भ पाखण्ड पकड़ा देती है। खिलौने पाने के लिए बच्चे पंक में भी चल पड़ते हैं। अनादि मोह से हम भटके तो हैं ही, उस भटकाव में यदि कोई दम्भ पाखण्ड सहारा बन गया और परमार्थ के नाम पर अपरमार्थ ही पकड़ाए रहा, कोई दम्भी गुरु बन गया या भगवान् बन गया तो हम पतितों का कोई नया पतन नहीं हो गया, लक्ष्य से हमारी दूरी अब भी बनी है यही हमारा दुर्भाग्य है।

मानव स्वभाव से ही अर्थकामपरायण होता है, वह धर्म और मोक्ष तत्त्व समझने में अपना बहुमूल्य समय लगाना नहीं चाहता। धर्म और मोक्ष को वह अर्थ कामों के नीचे मानता है। नीचे के इन पुरुषार्थों को वह गुरु के भरोसे छोड़ना चाहता है। वैसे ही जैसे हम अपने पशुओं को चरवाहे के भरोसे छोड़े रहते हैं। चरवाहा यदि कह देता है कि पशु पानी पी चुके हैं तो हम मान लेते हैं। चरवाहे को हम वेतन तो देते ही हैं, इससे विश्वास स्वाभाविक है। पशु सौंपने के लिए चरवाहे की पहचान हम कर चुके होते हैं किंतु परम पुरुषार्थ के लिए स्वयम् को समर्पित करने के लिए गुरु भाव की ठीक पहचान नहीं कर पाते।

क्योंकि न तो हमें अध्यात्म विद्या मिली होती है न सत्संग ही मिला होता है। न ही मुक्ति की दिशा में व्यक्तिगत अनुभव या चिंतन ही रहता है। हम कुछ चमत्कार देखकर भूखे मन से भगवान् मानने लगते हैं। माया का भगवान् जब स्वयम् को गुरु कहता है तब हम उसे गुरु मानते हैं। वह बोलता है कि मेरी मानो, विश्वास करो और श्रद्धा करो, तब हम अपना मन वैसा ही बनाने लगते हैं। जब वह कहता है कि दूसरी बातें मत सोचो, तब हम अपना चिंतन कुण्ठित कर लेते हैं। वह मुक्ति की भी महिमा बताता रहता है, तब हम बंधन समझे बिना ही मुक्ति के लिए दौड़ पड़ते हैं। अपने विवेक को तिलाञ्जलि देकर माया के गुरु का मुंह हम देखते रहते हैं।

हमारा वास्तव गुरु वह होगा जो तत्वदर्शन में हमें स्वावलम्बी बनाए, भगवान् की कोई नयी मूर्ति शाश्वत कह कर भी न सौंप दे बल्कि वही रूप प्रस्तुत करे जो व्यास शुक पराशर आदि के हृदय में रहा है। जो स्वयम किसी महान् आचार्य का शिष्य बनने की श्रद्धा न रखता हो वह हमारा कल्याणकारी गुरु नहीं हो सकता। परमात्मा मूल रूप से जगद्गुरु हैं, अवतार रूप से नहीं। 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुं' कह कर हम वासुदेव कृष्ण को अवतारी मूल रूप में देखना चाहते हैं। पर ब्रह् परमात्मा का भी अवतार कतिपय सीमित उद्देश्यों से बंधा होने एवं देश काल अवस्था से भी बंधा होने से समग्र विश्व के प्रति अपने वास्तव गुरुत्व से कटा ही रहता है। इससे उसके वचन विश्वजनीन नहीं हो सकते। भगवद्गीता अनादि अध्यात्म विद्या का अनुवाद होने से विश्वजनीन है। यानी सभी देशकाल अवस्था वर्ण आश्रम जाति सम्प्रदाय वाले मानव एवम् मानवेतर के लिए भी समान रूप से अध्यात्म पथ के लिए अनिवार्य पाथेय है।

वेदों से थोड़ा भी हट कर सोचना और बोलना आत्मकल्याण से अपनी दूरी बनाना है। दूरी पाप वासना से ही आती है, दुर्वासना दूरी बढ़ाती ही जाती है इससे अन्तिम पतन भी हो जाता है। इसलिए इस दूरी को पाप ़खण्ड=पाखण्ड या पाषण्ड कहते हैं। पृषोदरादि गण से साधुत्व है। विदेशी सारे मजहब वैदिक अर्थों को काट-छांट कर बने हैं, उनकी भाषा के साहित्य में वैदिक रमणीय सन्दर्भ मिलते हैं। भारतीय बौद्ध दर्शन वेदों के 'निर्गुणम्' 'निरञ्जनम्' 'निष्क्रियं' 'शान्तम्'' आदि वचनों के अर्थों को बिगाड़ कर एवं 'प्रज्ञानम्ब्रह्म' ऐसे वचनों के

गलत अर्थ लेकर शून्यवाद और विज्ञानवाद आदि नामों से प्रचलित हुआ है। परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण ही बुद्ध हुए थे, वे ही जैन धर्म के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए थे। बौद्धों में दसवें बुद्ध सिद्धार्थ गौतम हुए थे। जैनियों में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर हुए थे। इन दोनों सम्प्रदायों में गुरुओं के अतिरिक्त लाखों प्रौढ़ ग्रंथकार विद्वान हुए हैं। हमारे कृष्ण गोपाल महा पशुपाल हैं। वे अपने सारे पशुओं के लिए मनचाहे चारे की व्यवस्था तत्परता से करते हैं किंतु वे यह भी चाहते हैं कि इन पशुओं से कोई गोकर्ण पण्डित ज्ञानी निकल जाए। चारे की व्यवस्था वे इसीलिए करते हैं कि खाता जीता हुआ कभी कोई पशु नरोचित चारा पसंद कर ले। नारायण को नर ही तो प्रिय शिष्य मिला है, नरोचित चारा चर कर वह कभी नर भी हो सकता है, तब नारायण उसे वह वैदिक रहस्य प्रदान करेंगे जो आदिकाल में नर को दिया था। वे पात्रता के बिना रहस्यार्थ देते ही नहीं। जो लोग अपने किसी गुरु को साक्षात् नारायण मानते हैं उन्हें यह देखना चाहिए कि ये हमें वह उपदेश दे रहे हैं या नहीं जो आदिकाल में नर को दिया था। नर को मिला उपदेश नये गुरु भगवान् को शायद विदित नहीं हुआ था। अब उनके चेले चाहें तो आत्मोद्धार के लिए पता लगा सकते हैं। किंतु मुश्किल तो यह है कि नये गुरु का मोह मजबूत पत्थरों से घिरा होने के कारण बाहर नहीं हो पाएगा। जो लोग अपने नये किसी सम्प्रदाय की उपयोगिता ठहराने के लिए नये-नये सम्प्रदायों के उदय और विकास के दृष्टान्त अंग्रेजी मानसिकता से गढ़ रहे हैं उनके लिए यह सुझाव है कि विश्व रचना चातुरी धुरीण मोक्षविद्या प्रवीण अपार कारुण्य सौशील्य सागर नटनागर आदि नारायण ने हिमगिरि की ऊंची चोटी से आदिकाल में ही मुक्ति का एक ही मार्ग प्रवाहित कर दिया है। किंतु उसमें एक अदृश्य प्रतिबंध लगा रखा है कि अर्थ कामपरायण की दृष्टि इधर न पड़े। यदि वे चाहें तो अर्थ वाला रंग अपने चित्त की चादर से छुड़ा कर शुद्ध भाव से श्री रंगनाथ भगवान् की शरणगति कर लें।

यदि कोई श्री रंगनाथ भगवान् की शरणागति किसी कारण से न कर पाए तो ब्रह्म वृक्ष पीपल के मूल में सारे विश्व के आदि मूल परब्रह्म परमात्मा की शरणागति करे। शरणागति में कोई आचार्य माध्यम अवश्य होते हैं किंतु उनके आदेश शास्त्रमूलक होने से ही

मान्य होते हैं। आदेश की समीक्षा करने का पूरा अधिकार प्रपन्न को रहता है। प्रपन्न और शरणागत पर्याय हैं। कैसे? यह व्याकरण से समझें। ध्यान रहे कि व्याकरण, न्याय, मीमांसा, काव्यशास्त्र और पुराण साहित्य की उपेक्षा से ही अपने मूल से हटकर नये-नये सम्प्रदाय बनते रहते हैं। यदि हम नये सारे सम्प्रदायों को समानता देने लगें तो तत्वदर्शन किसी नटी के नृत्य प्रदर्शन से भी नीचे रह जाएगा। नृत्य में रस मिलता है जबकि तत्त्वों पर शनिदृष्टि या श्वानदृष्टि केवल निराशा लाती है। हम तत्त्व हित पुरुषार्थों से जितना हटते हैं उतनी ही निराशा हमें अपने उज्जीवन के प्रति बढ़ती है। तब हम अपने वेश के रंग को बदरंग करते चलते हैं। मानव का शरीर भी आत्मा का एक उत्तम वेश है, इसमें सिर सबसे प्रधान है, वह प्रत्येक सत्य के लिए झुकता रहता है। इसकी रचना सफल तब होती है जब यह किसी परम सत्य के लिए श्रद्धा से झुकने लगता है। श्रद्धा की पूर्णता मुक्ति की अंतिम सीढ़ी है। तत्त्व पर श्रद्धा का शैथिल्य भी नया सप्रदाय रचने का संकल्प पालता है।

कोई भी नया सम्प्रदाय अपने समय में एक नये चोर के समान होता है। वह शाश्वत तत्त्व हित पुरुषार्थों का कुछ चुराकर, छिपाकर अपने वाग्जाल से ढ़ककर स्वयम् के चिंतन में नयापन प्रदर्शित करता है। अपने कर्तव्य में नयापन ढूंढ़ रहा मानव नया सम्प्रदाय झट अपना लेता है। गाय का दूध छोड़कर भैंस का पीने लगता है। फिर भी गाढ़ा पौष्टिक दूध दे रही भैंस गौओं की तरह पूजी नहीं जा सकी, बकरियां अपनी पूजा के लिए उसका मुंह ताक रही हैं।

मोक्ष का अनादि वैदिक मार्ग एक ही है भगवान् की भक्ति। यह भक्ति तत्वज्ञानपूर्वक कर्तव्यनिष्ठा और पुरुषार्थ (फल) पर आस्था से होती है। भक्ति की ही चरम परिणति है आत्मसमर्पण, यही शरणागति है। शरणागतिप्रवण महान् आत्माओं के बीच से निकल कर जो व्यक्ति मायावादी भावनाओं से जुड़ा रहा और कोई नया सम्प्रदाय गढ़ लिया तो वह उसका और उसके चेलों का वही दुर्भाग्य है जो अनादिकाल से संसार में बंधे लोगों का है। शरणागति की ओर चलते-चलते भी मानव पूर्व वासनाओं से अपने अहम् का त्याग न कर पाने से मार्ग बदल लेता है।

जो लोग तीन से कम या ज्यादा तत्त्व मानते हैं उन्हें **'भोक्ता भोग्यम् प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्वमेति'** इस श्रुति वचन

का परिशीलन कर लेना चाहिए और उसके अनुरूप ही अपना तत्त्व हित पुरुषार्थ निश्चित करना चाहिए। श्रुति कभी भी सम्प्रदाय नहीं बांटती न दम्भ पाखण्ड को प्रश्रय देती है। कोई स्वयम् को वैदिक घोषित करे और किसी भी श्रुति का अर्थ अपनी दुर्वासना की ओर खींचना चाहे तो उसे सफलता नहीं मिलेगी, आज तक किसी दम्भी या पाखण्डी को सफलता नहीं मिली है न मिलने की कोई सम्भावना है। अवश्य ही अज्ञानियों के बीच में कोई अपनी मनमानी बात श्रुतियों से जोड़ कर बोल लेता है।

उक्त श्रुति का अर्थ थोड़ा समझ लें। इसमें तीन तत्त्व कहे हैं जीव प्रकृति और ईश्वर, काल का नाम नहीं आया। पर वह प्रकृति से विशेष्य या विशेषण रूप से जुड़ा ही मिलता है इससे उसका भी बोध होगा। जीव को यहां भोक्ता कहा गया है, भोग अपने कर्मों से ही होता है। इससे जीव का पहला रूप कर्ता भी यहां समझा जाता है। जीव के बहुत से अच्छे धर्मों के रहते हुए भी अज्ञानमय संसार का कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व ही है। इससे भोक्ता कहा गया है। 'मनु अव बोधने' धातु से मत्वा बनता है। अवबोधन का अव उपसर्ग भेदक सारे धर्मों का संकेत करता है इससे जीव के मोक्षोपयोगी धर्म ज्ञानानन्दमयत्व और शेषत्व एवं शेषत्वोचित कर्म भी यहां विवक्षित हैं। दूसरा तत्त्व प्रकृति भोग्य कही गई है। वास्तव भोग्य सुख और दुख ही हैं किंतु भोगोपकरण और भोगस्थान भी भोग के संपादक होने से भोग्य माने जाते हैं। इससे सकल ब्रह्माण्ड का बोध होता है। तीसरे ईश्वर तत्त्व को यहां प्रेरिता कहा गया है। प्रेरयिता न कह कर प्रेरिता कहा गया है। अर्थ प्रेरक है। चेतनों के कर्मफलोपयुक्त परिणाम प्राप्त कराना प्रकृति के प्रति प्रेरकत्व है और चेतनों को उनके कर्मफलों के अनुरूप परिग्रह और त्याग के संकल्प बनवाते रहना चेतनों के प्रति प्रेरकत्व है। किंतु कुछ असामान्य चेतनों को मुमुक्षु बनाना और उन्हें विशुद्ध मोक्ष मार्ग में अग्रसर करना भी एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा है। इससे यह प्रेरिता कोई निकृष्ट तत्त्व नहीं है। यहां पूर्वोक्त मत्वा पद मोक्षार्थ श्रवणोत्तर मानस व्यापार मनन का वाचक एवं निदिध्यासन रूप मननपरिणाम का उपलक्षण है। ऐसा अधिकारी परमात्मा का निरतिशय प्रिय होता है। उक्त प्रियता की प्राप्ति यहां 'तेन जुष्टः' से कही गई है। आगे 'तंतः' 'तनु व्याप्तौ' व्याप्त्यर्थक तनु धातु से भूतार्थक क्त प्रत्यय से बना है जो भगवदीयसत्वरोद्धरणसंकल्पविशेषविषयता रूप व्याप्ति का वाचक

है। 'अमृतत्वम् एति' से विषय संस्कार जनित प्रमाद रूप मृत्यु से सदा के लिए बच जाता है अर्थात् आत्यन्तिक मोक्ष प्राप्त कर लेता है ऐसा अर्थ निकलता है।

यह वाक्य स्पष्ट रूप से मोक्ष का प्रतिपादन करता है। वेद में कोई साम्प्रदायिक वाक्य नहीं होता। लौकिक कारणों से बने सम्प्रदाय अपनी प्रतिष्ठा के लिए वेदादि शास्त्रों में अपने मन के शब्द ढूंढ़ा करते हैं। पसंद का कोई शब्द मिल जाने से पुलकित होकर कह उठते हैं कि मेरा सम्प्रदाय वेद से सम्पोषित है। वे चन्द दिनों के अपने सम्पद्राय को शाश्वत वेद वाङ्मय में ढूंढ़ते हैं। कोई चोर कह सकता है कि भगवान् कृष्ण ने ही चोरी का सम्प्रदाय चलाया है। कोई आतंकी भी कह सकता है कि उन्होंने ही सबसे पहले मथुरा में आतंक फैलाया था। भगवान् के नाना अवतारों से नाना बुराइयां सीखी जा सकती हैं। किंतु अवतारों का कोई महान् लक्ष्य और समग्र वेद वाङ्मय का कोई एक शाश्वत तात्पर्य जानकर उसके अनुरूप अपना जीवन बनाने से मानव जीवन सफल होता है। कुछ मनचले या परिस्थिति के मारे लोगों के द्वारा कल्पित अलीक सम्प्रदायों की क्षुद्रताओं से बंध कर स्वयम् को भ्रमवश महान् मानते हुए गैरों का अनादर करना देखने में धर्म हो सकता है किंतु वह एक घातक अधर्म होता है। भगवान् ने समग्र गीता में जो सर्वत्र समदर्शन का पाठ पढ़ाया है वह यदि हृदय में बैठ नहीं पाया तो जन्म सफल कैसे होगा? पूरी भगवद्गीता एक शरणागति विद्या है। ऐसा ज्ञान जिसे न हो पाया हो वह चाहे जितना प्रवचन करें, किसी का भी गुरु कैसे हो पाएगा। शरणागति भक्ति की चरम परिणति तो है ही, सारे वेदान्तों और पुराणों का मर्म भी वही है। कुछ लोग इसे कर्म ज्ञान भक्ति में असमर्थ किसी साधक का एक सहारा समझते हैं। सो ठीक है, शेषत्व का शास्त्रीय और व्यावहारिक अनुभव सुदृढ़ होने पर अन्य उपायों में अपनी असमर्थता दीखने लगती है, तब संसार से वैराग्य होने पर शरणागति होती है। अपने को स्वतंत्र कर्ता और शेषी समझते रहना भी अपने स्वरूप का एक अनादि अज्ञान है।

शिव के अवतार आदि शंकराचार्य ने अपने भाष्य में मुक्ति के लिए ब्रह्म भाव की प्रधानता दी है किंतु षट्पदी स्तोत्र में पूर्ण शरणागति का उपदेश प्रार्थना की भाषा में रख दिया है। उनका अशास्त्रीय ब्रह्मभाव परवर्ती आचार्यों के द्वारा खण्डित हो चुका है

किंतु प्रपत्ति या शरणागति का विरोध आज तक कोई नहीं कर पाया है इससे शांकर मत से भी मोक्ष का एक मात्र उपाय शरणागति ही है। जो लोग भक्ति को उपाय मानते हैं वे यदि पत्र पुष्प समर्पण और प्रणाम मात्र को भक्ति मानते हों तो उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि अहंकार जब तक गल न जाए तब तक मोक्ष या हरि कृपा बहुत दूर ही रहती है और अहंकार गलता है एकमात्र शेषत्व बोध से। शेषत्व बोध प्रपत्ति लाता ही है। शेषत्वबोध से पूर्व की भक्ति अहंकार से दूषित रहती है इससे हरि कृपा का कारण नहीं बन पाती।

अधकचरे गुरु स्वयम् अज्ञानग्रस्त होते हैं इससे संसारी चेतनों को भगवत्कृपा की ओर बढ़ा नहीं पाते बल्कि दूर ही अज्ञान के फन्दे में बान्धे रहते हैं। वे स्वयम् बर्बादी की ओर बढ़ रहे होते हैं इससे दूसरों को भी उधर ही बढ़ाया करते हैं। शेषत्व का बोध शास्त्रों से तो होता ही है पर अपनी और दूसरों की लौकिक परिस्थितियों पर ध्यान देने से भी वह समझ में आ जाता है। हर व्यक्ति स्वयम् को परिस्थितियों का दास मानता है। परिस्थितियों पर काबू पाना और न पा सकना जिस बल के होने न होने पर निर्भर होता है वह भी एक परिस्थिति ही होती है। अपने योग्य परिस्थिति स्वयम् रचने का भ्रम इसलिए हो जाता है कि उपकरणों की उपलब्धि और अभाव पर हमारा ध्यान नहीं जा पाता। हिंसा से आगे बढ़ रहे लोग जिस परिस्थिति में आत्महत्या करते हैं वह उनके द्वारा रची नहीं होती बल्कि कुछ भी न रच पाने की स्थिति होती है, यही उनकी नैसर्गिक पराधीनता होती है, वे यदि ज्ञानी हों तो वह आत्महत्या उनकी मुक्ति का द्वार बन सकती है। वे यदि हरि सेवा के रूप में युद्ध कर रहे हों तो आत्महत्या प्रभु के चरणों में पूर्ण समर्पण यानी प्रपत्ति या शरणागति बन जाती है। धर्मयुद्ध विधान की यही व्याख्या है। आतंकी आसानी से धर्मयुद्ध सीख सकते हैं, मोक्ष भी पा सकते हैं यदि देश की शासन व्यवस्था धर्म से नियन्त्रित हो।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च युद्धे चाभिमुखो हतः॥

सूर्यमण्डल भेद यहां मोक्ष लाभ ही है। परिव्राट् स्वर्ग नहीं चाहता। युद्ध में मारा गया वीर निष्काम कर्मयोगी होने से युद्ध कालिक भावना ही उसकी ब्रह्मविद्या हो जाती है इससे परिव्राट् वाला पद वह भी पाता

है। किसी नये गुरु के जराजीर्ण चेलों को और अन्धभक्ति का पल्ला पकड़े चल रहे नये चेलों को भी यह रहस्य हृदयंगम कर लेना चाहिए। अपने प्रभु को केवल शास्त्रों के द्वारा ठीक से जान कर उनके प्रति परिपूर्ण अनुराग रखते हुए अपने सारे कृत्य केवल उनकी ही संतुष्टि के लिए कर रहा साधक न केवल अप्रमादी होता है बल्कि इसी जन्म में परम पुरुषार्थ मोक्षलाभ का प्रथम अधिकारी भी हो जाता है।

यद्यपि मोक्षमार्ग कोई एक ही सरल और सुबोध है किन्तु हमारे ही अज्ञानों की कटीली झाड़ियों में वह हमारी नियति के घने मेघों की छाया में छिपता रहता है। जब हमारे अज्ञान शास्त्रपरिशीलन से मिटेंगे, नियति स्वच्छ होगी तब वह सूर्य प्रकाश में राजमार्ग की तरह निःशंक स्वच्छ उपलब्ध हो जाएगा।

लिये पद पराग ही सुरनदी बही जा रही,
स्वयं गुरु कृपा घनी विमलवारि नारायणी।
वराह लघुपल्वलीमृदितकालपंकावली,
निलीनमति शान्त हो शयनसौख्य में है सही॥
सौभाग्येन सतां समर्पितहृदां संगो यदा जायते,
तद्वाग्भिः प्रतिभा प्रसीदतितरां तत्त्वं धिया धार्यते।
सत्कृत्यैः कुसुमैर्हरेः पदयुगं सच्छ्रद्धयाऽऽच्छाद्यते,
तच्चित्तं कमलाऽऽननाभममलं तेनाऽलमास्वाद्यते।

***

सम्प्रदायों से हानि-लाभ

सम्प्रदायों की विविधता और उपादेयता का चिन्तन अन्यत्र है। यहां इतना ही कहना है कि दुर्गुणी मानव अच्छे सम्प्रदायों से भी अपने दुर्गुणों का ही विस्तार करता है जब कि गुणवान् पुरुष बुरे सम्प्रदायों से भी अपनी अच्छाई बढ़ाने वाला उपकरण निकाल लेता है। यहां सम्प्रदाय का तात्पर्य संगठन में उपलब्ध गुणशील कर्मों से है। वास्तव में सत् तत्त्व पर विवेक पूर्वक अविचल निष्ठा ही सम्प्रदाय है। संसारी जीव अपने शुभाशुभ भोगों की ओर ही उन्मुख रहता है इससे वह भोगों को ही सत् तत्त्व मानता है। सत् तत्त्व के शास्त्रोक्त लक्षण उसे अपने भोगों में ही दीखते हैं। न दीखने पर भी उसका मन अपने भोगों में ही बन्धा रहता है। ईसाई संगठन के शीर्ष सदस्यों का प्रमुख भोग

होता है पर राष्ट्रिय प्रजा का दम्भ पाखण्डमय उपायों से शोषण। यीशु या परमात्मा के मिलने की कल्पना में मन्द बुद्धि के लोग शोषण के शिकार होते रहते हैं जबकि शीर्ष लोगों का ध्यान परमात्मा में न रह कर शोषण में ही रहता है। मुसलमानों में शीर्ष लोगों का प्रमुख भोग होता है स्वदेश या परदेश के लोगों में से कुछ को काफिर मान कर उन्हें जेहाद के नाम पर लूट मार और हिंसा का शिकार बनाते रहना। वे अल्लाह या खुदा या रब के दीन कभी नहीं होते। वे तो नमाज पढ़ कर निकल रहे लोगों पर भी गोली चलाते हैं। उनमें भी उन्हें काफिर मिल जाते हैं। जिनके पास माल असबाब न हो, जवान लड़कियां न हों, उन्हें वे काफिर नहीं लगते। जो गरीब व भूखे अनपढ़ लोग चोरी और लूटमार कर अपनी जीविका चला रहे होते हैं उन्हें फुसलाकर कलमा पढ़ाते और लूटमार की ताकत बढ़ाने के लिये मुसलमान बना लेते हैं। जिसे आज तक इस्लाम कहा गया है वह असल में लुटेरों की ऊपरी सराफत है। इसी से वहां काफिर और जेहाद की सही परिभाषा नहीं बन पायी है। कोई भी इनसान दो में से किसी एक ही वजह से इस्लाम कबूल करता है। या तो वह हर तरह से लाचार हो, इस्लाम कबूल किये बिना जिन्दा रहने की कोई सूरत उसे सूझती न हो या सच्चाई पकड़ने वाली अक्ल उसके पास न हो और इस्लाम से कुछ दुनियावी फायदा नजर आ रहा हो। इस तरह पूरा समझे बिना ही आज तक इस्लाम अपनाया गया है। यह चीज अगर पूरा समझ में आने वाली होती तो कुरान में ही बार बार यह सुझाव नहीं आता कि काफिरों को तब तक सताते जाओ जब तक वे इस्लाम कबूल करके रोजा नमाज में शामिल होकर जजिया न देने लगें।

यहां ईसाई मुसलमानी संगठनों का संक्षिप्त दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। इसलिए कि भारत में दिनो दिन फैल रहे निराधार नये नये उन संगठनों की समीक्षा और परीक्षा में उत्साह और निपुणता प्राप्त हो जो स्वयं को एक नया अच्छा सम्प्रदाय कहते हुए समाज को गुमराह कर रहे हैं। अधिक आस्था और श्रद्धा के पात्र उन पुराने संगठनों की भी अभी नयी पहचान बनाने की आवश्यकता है जहां दम्भ पाखण्ड का बाहुल्य हो गया है जिससे समाज अपने पुरुषार्थ से ज्यादा ही दूर होता जा रहा है। जो लोग सहजभाव से समाजसेवा में रुचि रखते हैं उन का ध्यान इधर आयेगा। प्रस्तुत है सहजानन्द स्वामिनारायण संगठन के

साग्रह सम्मानित अक्षर ब्रह्म की मौलिकता पर प्रश्न और उससे हो रहे लाभ और हानियों का विवरण।

अक्षर ब्रह्म नामक किसी चेतन तत्त्व का जीव और ईश्वर से भिन्न किसी भी रूप में संकेत वेदादि ग्रन्थों में कहीं भी, भ्रामक रूप में भी नहीं है, उक्त संगठन के साधु भी जो विवेकशील हैं वे समझते होंगे कि ऐसा कोई तत्त्व उपलब्ध नहीं है। फिर भी गुरुभक्ति और गुरु के प्रति दायित्व के भार से दबे होने से एवम् अनुगत किसी अधिकार और सम्मान की सुरक्षा की चिन्ता से जानबूझ कर जनता की आंखों में धूल डालने का प्रयत्न कुछ लोग कर रहे हैं। आग्रही होने से उन्हें समझाया नहीं जा सकता किन्तु जो जो प्रमाण वे स्वयम् प्रस्तुत किया करते हैं उन पर प्रसंगानुकूल और भाषा की मर्यादा के अनुसार सोचने को उन्हें बाध्य किया जा सकता है। यह बाध्यता उन्हें स्वशिष्यों से हो तो ज्यादा अच्छा होगा। विवेकशील उनके शिष्यों को यह सुनिश्चित करना चाहिये कि यह अक्षर ब्रह्म मेरे स्वयम्भू गुरु भगवान् ने परम्परागत तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है या अपनी योग दृष्टि से देखकर बतलाया है या दोनों बातें हैं। यदि प्रथम पक्ष है तो शंकराचार्य यामुनाचार्य प्रभृति महापुरुषों ने शास्त्रों का विधिवत् परिशीलन नहीं किया था? बीच में यह दूसरा ब्रह्म कैसे घुस गया? यदि उनके योगबल से इसे उतरा मानें तो वह केवल योग का या योग शास्त्र का विषय होगा, वेद वचनों का आलम्बन वह नहीं बन सकता, उसे अध्यात्म शास्त्र का विषय नहीं कहा जा सकता, भगवान् बादरायण ने 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि यौगिक कोई भी उपलब्धि ब्रह्म विद्या का अंग नहीं बन सकती। दूसरा पक्ष न रहने से तीसरा पक्ष स्वतः छूट जाता है। जो थोड़ा पढ़े नये साधु कतिपय शास्त्र वचनों में से अपने इस अनोखे अक्षर ब्रह्म को निकाल रहे हैं उन्हें अपना शैक्षिक स्तर बढ़ा कर ऐसा लिखना चाहिये जो प्रामाणिक व्यक्तियों को प्रभावित करके उनकी सहानुभूति अपने पक्ष में जमा सके। अभी तो उनके लेख अशिक्षित लोगों को केवल भ्रम में रखने में क्षणिक सहायक मात्र हैं।

अब हम कल्पित इस अक्षर ब्रह्म से लाभ का विचार करेंगे। कल्पित अर्थों से भी लाभ होता है। इस अक्षर ब्रह्म ने और विफल विशेषण सर्वावतारी ने सहजानन्द को अति कल्पित उच्च स्थान दे दिया। अक्षर ब्रह्म का विस्तार से वर्णन करके उससे नीचे माया और

उससे भी नीचे ब्रह्मा विष्णु महेश बनने वाले ईश्वर का अस्तित्व एवम् अक्षर ब्रह्म से भी ऊपर उपास्य सेव्य पर ब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण बतलाने से वेदार्थ परमात्मा अपने ही रूप विष्णु से बहुत ऊपर ठहरता है और सर्वावतारी कहने से सारे अवतारों की शक्ति गुण ऐश्वर्य आदि का आश्रय समझ में आता है, साथ ही अवतार जितने भी होते हैं उनका मूलरूप वह है ऐसा समझ में आता है। जब कोई शठ अपने गुरु को मूल और सर्वावतारी कहता है तो गुरुभक्ति उसमें हो या न हो पर नरसिंह और उनके भक्त प्रहलाद आदि के प्रति आदर भाव हट जाता है, फिर भी गुरु के आदेश से नरसिंह मन्दिर में जाकर वह प्रणाम कर लेता है। इससे वह दिखावे का आस्तिक और अन्दर से नास्तिक रहता है। क्योंकि वह अवतारों के कल्पित मूल पर ही आस्था रखता है। अवतार और अवतारी का भेद इस सहज आनन्द के संगठन में ही महत्व रखता है। जिसके चेले और भक्त विश्व की किसी भी हस्ती को महत्व न देते हों उससे बड़ा क्या होगा। इस तरह सहज आनन्द मिथ्या हिमगिरि शिखर से भी ऊंचा हो गया। इस ऊंचाई को कायम रखने के लिये अक्षर ब्रह्म का अवतार मान लिया, समझा दिया, पूजा सेवा का विधान रच दिया, मूर्ति रच कर प्रतिष्ठित भी कर दी। अब कौन कहेगा कि अक्षर ब्रह्म नहीं होता, विष्णु शब्द पर ब्रह्म का ही वाचक है इत्यादि। ऐसा सोचने और कहने के लिये तो शास्त्रों में चिरकाल विचरण के बाद योग्यता आ सकती है। इससे अच्छा है गुरु भगवान् की बात मान लें। स्वयम् आये भगवान् से बड़ा गुरु कौन होगा और स्वयम् उतरे गुरु से बड़ा भगवान् कौन होगा। एवम् अन्ध श्रद्धालुओं से बढ़कर शिष्य और भक्त कौन होगा। ऐसी धारणा है रंगीन गुर्जर पटेलों की।

इस कल्पित अक्षर ब्रह्म से और तत्त्व पंचक वाद से भी स्वयम्भू गुरु भगवान् को जीवन अवधि में जो लाभ होना था वह तो हो गया किन्तु शरीर छूटने के बाद उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। यदि वे सर्वावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण थे तब तो पूर्ण काम होने से उन्हें कोई लाभ नहीं होना है। अक्षर धाम तक आहुति पहुंचाने वाला कोई देवता न होने से भी उन्हें कोई लाभ नहीं हो रहा है। अक्षर ब्रह्म भी वहीं रहता है। इससे एवं निष्काम होने से भी उसे भी कुछ लाभ असम्भव है। किन्तु यदि ये दोनों कल्पित ब्रह्म संसारी चेतन रहे हों तब तो कर्माधीन संसरणपरायण होने से देवभाव के अभाव में पूजा और

बलि उन तक पहुंचाने की कोई व्यवस्था न होने से लाभ नहीं हो रहा है।

अब अपने तथाकथित पर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्म से संगठन के सदस्यों को जो जो अनिष्ट हो रहा है वह भी ध्यान देने योग्य है। पर ब्रह्म शब्द से ये क्या लेते हैं यह पहले जानना है। दो सौ वर्ष पूर्व अयोध्या के पास ग्राम छःपैया में उत्पन्न घनश्याम नाम का बालक जो आगे चलकर गुजरात में अपनी घोषणा से भगवान् मान लिया गया था उसे ही ये लोग भगवान् पर ब्रह्म और सर्वावतारी कहते हैं और वेदोक्त परमात्मा को इसका ही रूपान्तर मानते हैं। यानी इनके विचार में गुजरात में द्विभुज चूड़ीदार पैजामा पहने उपदेश दे चुका व्यक्ति मूल है और शास्त्रोक्त सारे रूप उसके ही अवस्थान्तर हैं। यदि ये लोग वेदोक्त स्वरूप रूप गुण विभूति ऐश्वर्य शीलवाले रूप को मूल और उक्त उपदेशक को उसका अंश मानते तो वह मान्यता शास्त्रीय होती किन्तु उलटा होने से, अंशी को ही अंश मान लेने से एवम् उक्त अपनी मान्यता पर विशेष अभिनिवेश होने से इनका कथित पंच वर्तमान बन नहीं पाता। इनके उक्त पंच वर्तमान में अन्य भी बहुत सी अड़चनें हैं। इससे इस संगठन के किसी भी सदस्य को मुक्ति कभी भी सम्भव नहीं है। अन्य अड़चनों की चर्चा अन्यत्र होगी। यहां इतना ही कहना है कि अपने इष्ट की पकड़ इन्हें प्रत्यक्ष दृष्ट और उसी दृष्ट के कथा श्रवण से होती है। इससे इष्ट का वरण शास्त्रीय नहीं हो रहा है। यह मोक्षमार्ग में बड़ी बाधा है। वह कह देने मात्र से सर्वावतारी नहीं बन गया। सर्वावतारी शब्द शास्त्रीय नहीं है। यदि कहीं कोई पर्याय मिलता भी हो तो वह इस व्यक्ति के लिये नहीं हो सकता। परमात्मा का शाश्वत रूप कालावच्छिन्न नहीं है। यह तो कालावच्छिन्न है, इसे शास्त्रों का ज्ञान भी नहीं था। यह इसके वचनों से ही प्रमाणित है। दो सौ तिहत्तर में से एक भी उपदेश ऐसा नहीं है जो मोक्षोपाय का शास्त्रीय विशदीकरण माना जा सके। ऐसा भी कोई उपदेश नहीं है जो परमात्मा के द्वारा जीवों को मोक्ष प्रदान का निर्भर योग्य कोई शास्त्रीय रहस्य प्रस्तुत करने वाला हो। इस व्यक्ति ने तो जीवत्व और ईश्वरत्व को माया के संसर्ग से होने वाला स्वभाव घोषित किया है, साथ ही ईश्वर के लिये भी मोक्ष की आवश्यकता बतलायी है। पर माया से ईश्वर को अज्ञान है या नहीं और कर्म प्रवाह है या नहीं इस विषय पर मौन धारण कर लिया है। विष्णु तत्त्व को उक्त ईश्वर की एक

अवस्था कहकर विष्णु शब्द के व्याकरण से समझ में आने वाले अर्थ पर अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की और साथ ही वेदादि शास्त्रों में परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में हजारों बार विष्णु शब्द प्रयोग की अनदेखी करते हुए अपनी सहज उच्छृंखलता प्रकट की है। मायावादी छाया में पले केवल पल्लवग्राही ऐसे व्यक्ति को गुजराती भावुक जन भले ही भगवान् माने मन्दिर बनाकर पूजें किन्तु सामान्य मानवी प्रज्ञा यह सहन नहीं कर पायेगी। इस प्रकार इनका माना हुआ पर ब्रह्म ही रद्दी निकल गया। वह मानव जीवन को अपने और उसके अज्ञान से बिगाड़ने के लिये परिपूर्ण है।

अब वास्तव में निरक्षर और नाम से अक्षर इनके नये दूसरे ब्रह्म पर भी विचार कर लें। यह बात तो कल्पना से भी परे है कि वेदव्यास से लेकर पिछली शताब्दी के पांच हजार वर्षों तक वेदादि शास्त्रों में जो अर्थ किसी भी आचार्य को नहीं मिल सका वह कल के जन्मे बिना गुरु वाले किसी व्यक्ति को मिल गया। वह भी इतना दृढ़ विश्वास के साथ कि वह वेदव्यास को भी चुनौती दे दे। इस बिना गुरु वाले गुरु का उद्धतपना चेले समझ गये इससे पंचतत्त्ववाद को पहले से ही प्रचलित कहने लगे। किन्तु औपनिषद् अर्थों के बीच बाहरी कोई अर्थ कैसे समा सकता है। यह प्रश्न तो पूर्व से प्रचलित मानने पर भी रह ही जाता है, इसके लिये संस्था के रुपयों से पढ़े संस्था के विकास के लिये प्रतिबद्ध कुछ रंगीन सन्त उपनिषदों के शब्दों से अपने इस वनमानुष को बान्धने के प्रयत्न करते मिल रहे हैं। जब मानव को वनमानुष पसन्द पड़ ही गया तब तो उसे अजायब घर में पहुंच कर कैद होना ही पड़ेगा। फिर भी उस वन्य प्रांणी में मानवता और सभ्यता सम्भव नहीं होगी एवं कुतूहल बढ़ाने के सिवा और कोई उपयोगिता उसमें नहीं मिलेगी। अक्षर ब्रह्म नामक कोई तत्त्व शास्त्रों में आया नहीं है। फिर भी संगठन वाले उसे मानते हैं पर उसकी ऐसी कोई उपयोगिता नहीं बतलाते जिससे उसकी आवश्यकता समझ में आये। भगवान् विष्णु के प्रमुख सेवक शेष जी हैं। वे भगवान् के निवास पलंग आसन पादुका वस्त्र उपधान (मसनद) छाता आदि नाना रूप ले लेकर भगवान् की सेवा में रहते हैं। अवतार में वे भी साथ उतरते हैं किन्तु इन लोगों का यह अक्षर परम पद धाम भी बनता है। शेष जी परिच्छिन्न होते हैं किन्तु इनका यह अक्षर अपरिच्छिन्न होने से गगन के समान विभु है, वह अवतार में परिच्छिन्न भी हो जाता है।

शेष जी के रहते इस अक्षर की कल्पना इसलिये करनी पड़ी कि विष्णु पर ब्रह्म के रूप में स्वीकार्य नहीं थे अतः उनका प्रमुख सेवक शेष भी छूट गये। प्रमाणों की तलाश जल्दी हो जाती है। इनके भगवान् ने वचनामृत दिये हैं, उसमें सारे प्रमाण भरे पड़े हैं। किन्तु इनके गुरु को वचनामृत के लिये कौन सा प्रमाण मिला था यह पूछना पाप होगा। वे भगवान् थे, उनका वचन वेदों की तरह स्वयम् प्रमाण होते हैं। यहां कोई यह पूछ सकता है कि तुम्हारे गुरु बहुत बार अपने वचनों को सारे शास्त्रों का निष्कर्ष या सार कहते थे, वे शास्त्रों के आधार पर ही कुछ बोलते थे। उत्तर है कि सो ठीक है, बहुत बार वे अपने अनुभव से भी बोलते थे। हम उन्हें भगवान् और सर्वज्ञ मानते हैं। इससे उनका कहा सब कुछ सही है, ऐसा मानते हैं।

उनका यह उत्तर सत्य से हटकर उतरा है और समाज में विघटन लाने वाला है। सत्य की सही पहचान वेदानुकूलता है। अन्य शास्त्रों के वचन हम वेदों से मिलाकर ही लेते हैं। वेदार्थ का निर्णय स्मृति इतिहास पुराण ग्रन्थों से होता है। वे ग्रन्थ भी अपने कर्तव्य में परिपूर्ण हैं, उन्हें किसी आधुनिक नये अर्थ वाले वचन की अपेक्षा नहीं है। पिछले चार पांच सौ वर्षों के अन्दर वेदों एवं स्मृति इतिहास पुराणों से हट कर बोलने वाले सैकड़ों महापुरुष भारत में हो गये हैं। स्थानीय जनता ने उन्हें भगवान् का ही दर्जा दिया है। उन सबों के वचनों का संग्रह भी पुस्तकालयों में एकत्र मिलता है। जो लोग किसी एक के कहे श्रद्धेय वचनों को प्रमाण मानते हैं उन्हें दूसरों के वचनों को भी प्रमाण मानना चाहिये। मेरा गुरु भगवान है तेरा नहीं ऐसा कहने मात्र से विवाद नहीं मिटेगा। विवाद मिटाने के लिये वेदों की ही शरण में जाना पड़ेगा। वेदों से बढ़कर श्रद्धा का पात्र कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, भले वह साक्षात् नारायण ही क्यों न हो। नारायण ही बुद्ध हुए थे इसमे कोई सन्देह नहीं, इसमें और भी सन्देह नहीं है कि नारायण को वेद से बढ़कर कोई वाद प्रिय नहीं है फिर भी वे नारायण पापमय जनता को पापमय मानस आहार परसने के लिये बुद्ध हुए थे। अवतार साधु परित्राण के लिये होता है। अवैदिक पन्थ दिखलाकर कुछ लोगों को उसमें चलाकर उन्होंने जो किया वह साधु परित्राण ही था, फलतः वह वेदों की रक्षा का उपाय ही था। वेदविरुद्ध बोलना भी वेदार्थ की रक्षा हो सकता है। यह रहस्य भगवान् ठीक से समझते हैं, भगवान् को वेदों के विरुद्ध बोलने का अच्छा अभ्यास है कुशलता भी है, वैदिक

मर्यादाओं की रक्षा के लिये उन्हें ऐसा करना भी पड़ता है। भस्मासुर को भस्म करने के लिये भी उन्हें अवतार ग्रहण करना पड़ा था। शंकर जी की रक्षा के लिये उन्होंने उनके सामने ही छूट कर उनकी निन्दा की थी, इससे भस्मासुर प्रभावित हुआ और शंकर जी को पाखण्डी ठहराने के उद्देश्य से अपने सिर पर हाथ रखा और भस्म हो गया। कथित सर्वावतारी के चेले यह कथा जानते हैं, किन्तु उस अवतार में उनके द्वारा कहे गये वचन बोलना वे पसन्द नहीं करेंगे। उन्हें अपने गुरु के आदेशानुसार श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के ८८वें अध्याय का भाव समझने का प्रयत्न तत्परता से करना चाहिये। इससे वे स्वयम् गुरु के मनोभावों का रहस्य समझ जायेंगे। कथित सर्वावतारी सहज आनन्द ने जो जो भी कहा वह कम ज्यादा जितना भी सत्य हो पर है वह केवल श्रोताओं का कर्मफल और कर्मफलों का माध्यम। शुद्ध मोक्षमार्ग उसे ही मिलता है जिसके संसार बन्धन बने प्राचीन कर्म विनाशोन्मुख हो चुके होते हैं। लाल वस्त्र धारण कर के भी जो वाणिज्य में आसक्त है या सांसारिक भोगों में आसक्त है वह चाहे किसी अच्छे सम्प्रदाय का ही अनुयायी क्यों न हो उसे मुक्ति का कोई उपाय समझ में आ ही नहीं सकता। अध्यात्म ग्रन्थों में एवं धर्मानुष्ठानों में मतभेद का यही रहस्य है। समाज के हित के लिये हमें सम्प्रदायों की समीक्षा करते ही रहना चाहिये। भेदों को भेद अभेद को अभेद, भेदों में अभेद और अभेद में सारे भेद देखना समझना और समझाने की क्षमता अर्जित करना पूर्व पुण्यार्जित वैदुष्य का फल होता है।

अपने गुरु भले ही सर्वशास्त्रमर्मज्ञ हों पर उनसे उपदेश तभी लेना चाहिये जब वे बाह्य आभ्यन्तर शुचि अवस्था में हों। अन्य अवस्था में वे सही नहीं बोल पायेंगे। गुर्जरों के विलक्षण गुरु सर्वावतारी जो भी कुछ बोल गये हैं वह सब कर्मनाशा करतोया जैसी पाप सरिताओं से अधिक मलिन मायावाद की छाया में शान्ति सन्तुष्टि लेकर लिखे बोले हैं, यह तथ्य सन्तों को कभी नहीं भूलना चाहिये। अपने गुरु की प्रतिमा की कोई आरती उतारे तो वह कल्याणकारी ही होगा किन्तु गुरु की बातों को पदवाक्य प्रमाण विद्याओं की छलनी से छाने बिना पीते जाने से संसार के नाना रोगाणु तुल्य शास्त्र विरोधी कुतर्क हृदय में घुल ही जायंगे। पापों की अगवानी करने के लिये हमारे हृदय में नाना रमणीय वेश वाली दुर्बुद्धियां नित्य प्रस्तुत रहती हैं।

देखिये, मुल्लाओं के सातवें आसमान से उतरा आपका अक्षर ब्रह्म तात्त्विक दृष्टि से तो रद्दी है ही, उसका पता आप किसी प्रौढ़ नैयायिक से कर सकते हैं पर व्यावहारिक दृष्टि से वह कितना घातक है, यह अभी देखिये। जब कोई आपके यहां साधु बन जाता है तब वह शिक्षा में चाहे जितना नीचे हो पर गुरु के कहने से मानने लगता है कि अब गुरु की कृपा से मैं अक्षर ब्रह्म हो गया हूं, गुरु ने मुझे बना दिया है। अब मैं पर ब्रह्म की भक्ति कर सकूंगा। पहले नहीं कर सकता था। भक्ति की शुरुआत ही मुक्ति है, मुक्ति मेरे हाथ आ चुकी है। दूसरे पन्थ के साधु यह बात नहीं समझते। वे तो माया से बने विष्णु की या अवतारों की भक्ति करते हैं। उनका इष्ट हमारे अक्षर से ही बहुत नीचे है तब पर ब्रह्म से तो और भी नीचे हैं। इससे इनकी तुलना में मैं बहुत ऊपर हूं। इन्हें चाहिये कि ये लोग मुझे प्रणाम करने लगें और अपनी उन्नति करें। ऐसा मान कर वह उन्हें हृदय से कोई आदर नहीं देता। जो भी कुछ आदर वह देता है वह सहज मानवता के नाते देता है किन्तु सम्प्रदाय कहला रहा उसका संगठन उसे कल्पित हिमालय की ऊंची चोटी पर बैठा चुका होता है। गुरु के कहने से अपने शरीर कुल जाति गोत्र से तो वह अपना अहम् भाव मिटाना अपना भावी कर्तव्य मानता है किन्तु कल्पित बहुत ऊंचे अक्षर से एकात्मता उसे गुरु के द्वारा पहले ही मिल चुकी होती है। तम्बाकू वह छोड़ चुका होता है पर काले नाग के विष की गर्मी उसे गुरु के मुंह से मिली बनी रहती है। विष्णु से ऊपर ईश्वर उससे ऊपर माया और उससे भी ऊपर जो गुणातीत अक्षर ब्रह्म है, उससे गुरु के द्वारा प्राप्त विश्वसनीय एकात्मता का झूठा भी भाव परमार्थ से सदा दूर रखने वाला होने से कृष्ण सर्प विष से तनिक भी कम नहीं है। मजे की बात यह है कि यह बनावटी माहनता ही मुक्ति समझी जाती है। साधु बायें हाथ से अक्षर को और फूल चढ़ा रहे दायें हाथ से पर ब्रह्म को पकड़े रहता है। इससे संसार उसके लिये बहुत नीचे माया की छाया में रह जाता है। पांच वर्तमान और चार शास्त्र उसकी जिव्हा के अग्रभाग में बसते हैं। शिक्षा न होने से एवं शिक्षा के प्रति सहज और गुरुवचन से भी आयी उदासीनता के फलस्वरूप वह उन अर्थों को समझ ही नहीं पाता जिन्हें गुरु ने भी बिना समझे पढ़ा दिया है। फिर भी यह साधु अब पहले जैसा सामान्य नहीं रह जाता अब यह विश्व ब्रह्माण्ड में सबसे ऊपर विराजमान अपने इष्ट के अति निकट स्वयं को मान रहा

होता है। इसे कुछ मिलना बाकी नहीं रहता बल्कि सबसे महान् पुरुषार्थ मोक्ष उसे मिल चुका होता है। गुरु के वचन पर दृढ़ विश्वास के फलस्वरूप वह अपने चित्त में उबल रहे दोषों को कभी देख नहीं पाता।

इस तरह किसी धूर्त द्वारा सम्पादित अज्ञान को ही ज्ञान, विफलता को ही सफलता, अपराधों को ही धर्म मान रहे उत्तरोत्तर अज्ञानान्धकार की ओर ही बढ़ रहे, बड़े धोखे से ही सन्तुष्ट ये निराधार बेशधारी तथाकथित सन्त अपनी जननी के सतीत्व की समीक्षा में अक्षम शिशुओं की भांति अपने आप सन्तुष्ट अज्ञात दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। पिशाच अपने उन पापों को पकड़ नहीं पाता जिनसे उसे पिशाच योनि मिली होती है। वह तो अपनी किसी आग्रहपूर्ण पकड़ पर ही अड़ा रहता है। अपना अड़ना ही उसे अपना बल और प्रभाव मालुम होता है। पिशाचों के मिथ्या आलम्बन से कम नहीं है यह अक्षर ब्रह्म पिशाच। श्रीमद्भागवत के श्लोकों से पिशाच योनि मिट जाती है। समय आ रहा है, इन्हें साथ देगा, दृष्टि खुलेगी, तत्वार्थ भास्कर हृदय गुहा को भी प्रकाशित कर देगा। संगठन का मंगलमय परिष्कार होगा।

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन, सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमहान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥

***

सौराष्ट्र में धर्मप्रदूषण

यद्यपि हमारा भारत देश सारा ही देवताओं को अति प्रिय है। वे यहीं जन्म लेना चाहते हैं। मुक्ति का मार्ग यहीं से खुलता है किन्तु मानवता ही यहाँ सर्वत्र सही स्थिति में द्वापर युग से ही नहीं रही है। महाभारत में इस आशय के कुछ वचन हैं। मानवता ही सनातन धर्म है, विकसित होकर यही देवत्व होता है। इसी की व्याख्या सामान्य विशेष भाव से वेदादि शास्त्र करते हैं। उक्त मानवता के ही तीस लक्षण श्रीमद्भागवत (7/11/5-12) में वर्णित हैं। भ्रान्त स्वामिनारायण ने चेलों को साधु के गुणों के रूप में उन्हें ढूंढ़ते भटकते रहने के लिये ग्यारहवाँ स्कन्ध बतला दिया।

जहाँ मानवता विकृत होती है वहाँ अपधर्म फैलाने के लिये कोई न कोई महापुरुष उतर आता है। शरीर पर ब्रण होने पर कोई न कोई मक्खी वहाँ उतर आती है। चिकित्सा जारी न रहने पर वह घाव बढ़ा

देती है। जैन बौद्ध पन्थ ईसाईयत और इस्लाम इसके अच्छे उदाहरण हैं। तत्त्व हित पुरुषार्थों में सम्भावित भ्रान्तियाँ रोकते रहना मानव का सहज कर्तव्य है। मानव धर्म के तीस लक्षणों में यह भी आता है। इस कर्तव्य में प्रमाद होने से भ्रान्तियाँ शुरू होती हैं तब पापों के अनुपात में अन्धेरे की ओर बढ़ाने को कोई महापुरुष मिलता है, वह कोई अनोखा सम्प्रदाय चलाता है जो अनोखी दुर्गति का द्वार बनता है। अंग बंग कलिंग मगध के समान ही सौराष्ट्र भी बहुत पहले से धर्मप्रदूषण का स्थान रहा है। यहाँ धर्म विरोधी चिन्तन आसानी से अंकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित हुआ करते हैं। सौराष्ट्र होने से ही दो ब्रह्म नपुंसक श्रुतियों की नजर बचाते हुए आठवें आसमान से यहाँ उतर आये हैं। इसी से धर्मशास्त्र इन देशों में जाने तक की मनाही करते हैं।

अंगबंगकलिंगेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति।

अर्थ कामपरायणता धार्मिक दृष्टि में मोतियाबिन्द बन जाती है। तब धर्म दूसरे की भाषा से दीखता है, अपनी विवेक दृष्टि साथ नहीं देती। इसी से एक अल्पज्ञ युवक नीलकण्ठ वर्णी सौराष्ट्र में गुरु ही नहीं, भगवान् भी बन गया, तब उसकी अटपटी सारी ही बातें वेदवत् प्रमाण हो गयीं। उसके बनाये आज के साधु उसके वचनों का केवल पारायण करना अपना पुनीत कर्तव्य मानते हैं, उनकी समीक्षा नहीं करते न आर्ष ग्रन्थों से सामञ्जस्य ढूंढ़ते हैं। ईश्वर से ऊपर दो ब्रह्म नपुंसकों की उपलब्धि उन्हें वाणिज्य का महान् लाभ लगता है। अक्षर ब्रह्म से एकात्मता उन्हें चौदह भुवनों से ऊपर उठा देती है। झूठी कल्पना की यह ऊँची उड़ान इन्हें उस आकाश पर बैठा देती है जहाँ से भगवान् का अति प्रिय चातुर्वर्ण्य शून्य सा लगता है, इससे ये ब्राह्मणों को नहीं झुकते बल्कि उन्हें आशीर्वाद देते हैं। गुजराती अल्पसंख्यक मूढ़ ब्राह्मण इनके आशीर्वाद से धन्य हो जाते हैं। ब्राह्मणों का दर्शन न मिलने से, शास्त्र संस्कार छूट जाने से, वर्णाश्र मोचित कर्मों के त्याग से, ब्राह्मण क्षत्रिय भी शूद्र हो जाते हैं। तब जो शुरु से स्वतः असंस्कृतज्ञ शूद्र प्राय रहे हैं उन पटेलों का क्या कहना है।

शनकैस्तु क्रियालोपाद् विप्राणामप्यदर्शनात्।
वृषलत्वं गता लोक इमाः क्षत्रियजातयः॥ मनु.

विदेशों में बस रहे अनेक कुसंस्कारी म्लेच्छ जो अभी भारतीय संस्कृति का सक्रिय विरोध कर रहे हैं वे पहले क्षत्रिय थे। ब्रह्म और ब्राह्मणों से दूरी बढ़ने से, बुरे संस्कारों के उभरने से शूद्रत्व और म्लेच्छत्व आता है। उत्तम संस्कारों के साथ जन्म होने से विदेशों में भी ब्राह्मणत्व सम्भव है किन्तु निकृष्ट संस्कारों के साथ भारतीय घरानों में भी जन्म लेकर अवैदिक चिन्तनधारा प्रवाहित करने वाले बहुत से भारतीय भी पिछले कई हजार वर्षों से विख्यात और पूजित हो रहे हैं। परमात्मा पर भी अवैदिक दृष्टि परमार्थ भूत परमात्मा से दूरी ही बनाती है, मानवता घटाती है, तब स्वर्ग से दूरी बढ़ती है और नरक निकट होता है। त्यागमय वेशभूषा से चल रहा युवक नीलकण्ठ वर्णी जब लोया (गुजरात) के साधु रामानन्द का उत्तराधिकारी चेला बनकर सहजानन्द नाम धराया तब से स्थानीय चेलों और भक्तों के अनुरोध से भगवान् बनने के लिये आकर्षक वेशभूषा और आहार लेने लगा। भगवान् बनने का उसका यह उपक्रम उसके और चेलों के आध्यात्मिक पतन का आरम्भ हो गया।

किन्तु जब से स्वयं को बार बार परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण घोषित करने लगा तब से उनका अन्तिम पतन शुरू हो गया। अपना शेषत्व भूलकर स्वयं को शेषी मानते चलना अपने कर्तव्यों में स्वयम् अवरोध खड़ा करके अपने हित और पुरुषार्थों से स्वयं हाथ धो लेना है। अस्त्र भूषण पार्षदों से सेवित शेषशायी योगिध्येय श्रीमन्नारायण के बदले स्वयं के भौतिक पिण्ड को ध्येय घोषित करके उसने चेलों को सदा के लिये परमार्थ पथ से मोड़ दिया। आसुरी प्रकृति के लोगों के लिये प्रवर्तित बौद्ध शून्यवाद से यह कुछ अधिक ही घातक प्रवृत्ति थी। तर्क प्रमाणों का सहारा लिये बिना ही, अपने ही घर में जारी इस प्रवृत्ति का प्रतिवाद करना प्रामाणिक लोग नहीं चाहते यही इसकी शून्यता से भिन्नता है। किन्तु चेले अब दूसरे प्रदेशों में भी मुखर होने लगे हैं, विवेक शून्य बातें लिख छपवा कर बेचने लगे हैं इससे प्रतिवाद शुरू हो गया है।

अपने गुरु की बड़ाई के सन्दर्भ में स्वामिनारायण साधु कहा करते हैं कि उनके शुभागमन के पहले गुजरात में चारों ओर दम्भ पाखण्ड जारी था। सन्मार्ग का पता नहीं था। हमारे गुरुदेव आये तब उन्होंने दम्भ पाखण्डों को दबाकर मुक्ति का सही मार्ग प्रदर्शित किया इत्यादि। उन्हें अब यह पता लगाना चाहिये कि अपने यहाँ जारी दम्भ

पाखण्डों की शुरुआत कब से हुई थी, उस शुरुआत से पहले सत्य सनातन धर्म प्रकाश में था या नहीं। सम्भव है कि उन्हें दम्भ पाखण्डों का सिलसिला कई हजार वर्षों से जारी मिले और शुद्ध धर्म का पता दूर दूर तक न चल पाये। यदि ऐसा हुआ तो सहजानन्द के तथाकथित एकान्तिक धर्म के नाम से अपधर्म के प्रचार प्रसार में सफलता का यही रहस्य होगा। इनका उक्त एकान्तिक धर्म भी पहले जैसा एक धर्मप्रदूषण ही है। प्रदूषण में प्रदूषण आसान होता है, धर्मनिरपेक्ष शासन में भ्रष्टाचार और विविध हिंसा होती और जमी रहती है। ये रंगे साधु ठीक से जानते हैं कि अपना तथोक्त एकान्तिक धर्म वेदादि शास्त्रों पर नहीं बल्कि सपनों और अविवेकपूर्ण दम्भमय वचनों पर टिका है। नशेबाज को दूसरा भी नशा भाता ही है, अफीम वाला गांजा भी पसन्द करता है। वह कह सकता है कि मैंने अफीम छोड़ दी है। अफीम छोड़ने का उसे गर्व भी हो सकता है किन्तु नशे से उसकी दूरी तनिक भी नहीं बढ़ती।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मानव समाज को सामाजिक भी काम करने पड़ते हैं। रोड साफ रखना पड़ता है, मकानों का निर्माण नगर पालिका के नियमों से ही करना पड़ता है। पहले नक्शा पास कराना होता है। नगर पालिका, थाना, अस्पताल, बैंक आदि सामाजिक संस्थाओं से अच्छे सम्बन्ध रखने पड़ते हैं। टैक्स देने पड़ते हैं तब जीवन सुखमय एवं सफल होता है। अन्यथा जेल भी जाना पड़ जाता है। ऐसे ही धार्मिक चिन्तन पर भी सामाजिक दायित्व और नियम होते हैं। धर्म भी मनमाना अपनाने की चीज नहीं है। अन्यथा घातक प्रदूषण फैलता है। लोक परलोक दोनों बिगड़ते हैं। स्वामिनारायण के नाम पर उनके नाम के चेलों ने शास्त्रज्ञों के परामर्श के बिना ही अपना नया विद्रोही पन्थ खड़ा किया है। परात्पर तत्त्व परमात्मा का विरोधी होने से इनका मिथ्या आलम्बन इन्हें नरक से बचा नहीं सकता।

नरके पच्यमानस्तु यमेन परिभाषितः।
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः॥

दूसरे पन्थों के देखादेखी एक नया सम्प्रदाय चालू करने की धुन चरम मूर्खता है। चालू सारे पन्थों संघों के रहस्य जानने चाहिये। उनकी समीक्षा और परीक्षा होनी चाहिये। ऐसा न कर पाना आदि मूर्खता है। सौराष्ट्र में दोनों सुलभ हैं।

शील विभव सम्पन्न समस्त गुर्जर देश को शाश्वत निर्दम्भ श्री वैष्णव धर्म प्राप्त होना चाहिये। श्री मन्नारायण की जंगम मूर्ति ब्राह्मण वर्ग पर पूर्ण श्रद्धा और सेवाभाव प्राप्त होना चाहिये। वेदोक्त शुद्ध धर्म ही प्रिय लगना चाहिये। सारे क्षेत्र में सस्वर वेदध्वनि फैलती रहनी चाहिये। वेदरस ग्रन्थ की समीक्षा संशोधन परिवर्धन का क्रम निष्कपट भाव से जारी रहना चाहिये।

विष्णु भक्ति सद्धर्म सभी को सब दिन भाये,
श्रुति सारार्थ मनोज्ञ हृदय में फिर फिर आये।
श्री जी को स्त्रीसंघ हृदय मन्दिर में लाये,
हर जन कृष्ण मुकुन्द राम नारायण गाये॥

***

नये भगवान् के प्रमाण

बिना मान के रम रहे, उनका क्या है मान ?
मिट्टी के गज सिंह है, उनमें क्या है जान ?

प्रमाणों के बिना ही जो लोग अपनी मान्यता में मस्त हैं, समाज में उनका आदर ही क्या है? मिट्टी के हाथी और शेर से कौन डरता है?

भारत ऐसा देश है, जहाँ राज गुजरात,
लोग जहाँ हैं मानते, खुले दिवस को रात।

कुछ गुजराती वेदादि प्रमाणों को वैसे ही नहीं समझ पाते जैसे उल्लू दिन को।

अन्धकार में दीखता, वहाँ अतीन्द्रिय तत्त्व,
साधु वहाँ ऐसे बहुत, जिन्हें न होता सत्त्व।

वहाँ वाले बिना प्रमाण के ही अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म जैसे अतीन्द्रिय अप्रामाणिक तत्त्व देखा करते हैं क्योंकि वहाँ ऐसे साधु बहुत हैं जिन्हें समझने को हृदय होता ही नहीं। त्याग प्रकृति का एक प्रभावी भारतीय युवक घूमता-घामता गुजरात पहुँचा, वहाँ वह एक मठ का महन्त बना दिया गया। उस महन्त को भक्तों ने भगवान् बनाना चाहा, उन्हें अपने समाज को प्रभावित करने के लिये एक भगवान् की तत्काल आवश्यकता थी। त्यागी युवक भी हृदय से धन चाहता था। इससे महान् बनने की

उसे भी बड़ी आवश्यकता थी, दैव ने गुर्जरसमाज के द्वारा उसे भगवान् घोषित करा दिया। अब वह सबसे महान् भगवान् बन गया। गुर्जरों ने अपने बनाये भगवान् से प्रार्थना की कि कुछ ऐसी नयी बातें और ध र्म बतलाओ जिससे भ्रष्ट समाज तुम्हारी ओर आये, कुछ परिवर्तन हो। तब युवक ने अपने मूढ़मते गुरु के झोले से दो नये ब्रह्म नपुंसक निकाले और कह दिया कि इनमें से बड़ा वाला ब्रह्म तो मैं ही हूँ, मेरी पूजा करो, यही एकान्तिक धर्म है। छोटा ब्रह्म अक्षर मैं तुमको बना दूँगा तब तुम मेरी पूजा कर पाओगे। यह बात नये भक्तों और चेलों को बहुत अच्छी लगी, इससे समाज में क्रान्ति का भरोसा हुआ। ब्रह्म बनना एक नयी बड़ी बात सामने आयी जो इस नये गुरु भगवान् के हाथों ही सम्भव था। इस नये गुरु भगवान् को और दिङ्मूढ़ भक्त शिष्यों को कहीं भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं थी। सांढ़ या बैल बिना नमक के ही अपना चारा खा लेता है। इस तरह बिना प्रमाण के ही नया धर्म और दर्शन खड़ा होने लगा तब कुछ सज्जनों ने प्रमाण पूछना शुरू किया, तब चेलों ने अपने नये भगवान् से निवेदन किया कि भगवन्! समाज प्रमाण मांग रहा है, उसे हम क्या दें। तब प्रत्युत्पन्नमति नये भगवान् ने तुरन्त उत्तर दिया कि वेदादि शास्त्र भगवान् के वचन होने से प्रमाण हैं, मैं भी तो भगवान् हूँ, मेरी बातें नोट करो, वही प्रमाण हो जायेंगी। इससे विवेक शून्य भक्तों को सन्तुष्टि हो गयी, अपने हाथों बनाये भगवान् का वरदान उन्हें तत्काल मिला।

गुरु ने अपने परम भक्त शतानन्द संस्कृतज्ञ शिष्य को बुला कर एकान्त में कहा कि वेद प्रमाण संस्कृत में हैं, नया हमारा प्रमाण भी संस्कृत में होना चाहिये, समाज तभी स्वीकार करेगा। इससे मेरे आदेश और निर्देश संस्कृत में श्लोकबद्ध करो। तब शिष्य ने कहा कि महाराज! आप अपनी इच्छा बतलायें, वही श्लोकों में बान्धी जाये। गुरु ने कहा कि यहां मेरे आश्रित पुरुषों को मेरे भाइयों के पुत्र दीक्षा दें, और महिलाओं को उनकी पत्नियाँ दें। शिष्य ने कहा कि ठीक है किन्तु और भी इच्छायें आप बतलायें जिससे प्रमाण का कुछ आकार बने। तब अन्दर से भी घनश्याम गुरु ने धर्मशास्त्रों की बातें जोड़ने का आदेश दिया। तब पचीस श्लोकों की उनकी इच्छापत्री बन गयी। किन्तु सवाल उठने लगे कि यह छोटी सी पत्री विशाल वेदराशि के

बराबर कैसे हो पायेगी। भक्तों ने गम्भीरता से जबाव गढ़े किन्तु वे जम नहीं पाये। तब थोड़ा और बढ़ाने का प्रस्ताव आया और बीस नये श्लोक जोड़े गये। 45 श्लोकों वाली पत्री वरताल में अभी भी उपलब्ध कही जाती है। फिर भी गुरु चेलों को इतने से भी भरोसा नहीं हो पाया। तब तीसरी किश्त के शतानन्दी प्रयत्न से अब उपलब्ध नया नाम लिये "शिक्षापत्री" बन पायी है जिसे अब के चेले स्वयम्भू गुरु भगवान् के हाथ की कहते हैं। यही है प्रथम सहजानन्दी प्रमाण। सहजानन्द आगे बोले कि प्रमाण इतना ही नहीं है, मैं जो भी कुछ बोलूं वह प्रमाण ही होगा। मेरे वचन व्योरेवार लिखो, छपाओ, वह तुम्हारे काम का होगा। तब उनके सारे प्रवचन संकलित और गुजराती में मुद्रित हुए। अब अहमदाबाद के प्रमुख स्वामी हिन्दी अनुवाद और शतानन्द का आंशिक संस्कृत पद्यानुवाद भी वितरित कर रहे हैं। जब नये भगवान् के मुंह से उतर रहे नये प्रमाण वचनों पर आक्षेप होने लगे कि यह तो वेदादि शास्त्रों से हटकर आ रहे हैं, ये प्रमाण कैसे होंगे? तब नये भगवान् संकट की पहचान करके झट पैंतरा बदलते हुए बार-बार कहने लगे कि मैं जो कहता हूँ वह सभी शास्त्रों का निचोड़ है, यदि मैं झूठ बोलता होऊँ तो इन परमहंसों की कसम। कसम सुनकर मन्दबुद्धि चेले शान्त हो गये किन्तु इस नये भगवान् की नयी बातों का पता वेदादि शास्त्रों में नहीं चलता। इसके उत्तर में चेले अब बोलने लिखने लगे हैं कि हमारे गुरु के वचन स्वतन्त्र और प्रथम प्रमाण हैं। इसी से हम उन्हें भगवान् मानते हैं और अक्षर का एक अलग अवतार मानते हैं, स्वयम् भी अक्षर बनने बनाने की तैयारी भी कर रहे हैं। किन्तु चेलों के ये वचन गुरु के किसी भी वचन से समर्थित नहीं हैं। अब तो चेलों को गुरु की कही नयी बातों का त्याग करके नये सम्प्रदाय का मोह मिटाना ही होगा। अन्यथा ईसाई मुसलमानों की पंक्ति में ही बैठना होगा। अनीश्वरवादी जैन बौद्ध इन्हें दूर से ही भगायेंगे।

सत्य कभी छिपता नहीं, दबता नहीं, वह तो मिथ्याभाषी के कण्ठ से ही निकल कर अपने नाना रूपों से चमकता रहता है। इस नये तत्त्वों वाले नये भगवान् झूठ चाहे जितने बोल गये हों पर स्वयं को शास्त्रमर्मज्ञ ठहराने के लिये और धर्मशील ठहराने के लिये शिक्षापत्री में श्रीमद्भागवत पारायण का आदेश जो दिया है और अपने प्रवचनों में

उक्त ग्रन्थ के प्रकरणों के भी परिशीलन के जो सुझाव दिये हैं वह यथार्थ को सामने लाने में एवम् उनके चेलों को सन्मार्गी बनने में बहुत उपयोगी हैं। उन्होंने उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता इस प्रस्थानत्रयी की भी चर्चा प्रमाण रूप से बहुत बार की है। इससे उनके चेले अब अपने यहाँ के नये चिन्तनों की समीक्षा और परीक्षा कर सकते हैं, चाहें तो धोखे से अपनाये कुमार्ग का त्याग कर सन्मार्ग पकड़ सकते हैं। देखा गया है कि गुजरात के इस संगठन में अध्ययनशील लोगों की संख्या नगण्य होती है। लोग केवल देखा देखी चलते हैं। देखा-देखी की प्रवृत्ति ने ही नीलकण्ठ वर्णी को गुरु और भगवान् ठहरा दिया। वहाँ प्रौढ़ संस्कृतज्ञ नहीं होते। वेतनभोगी बाहरी कुछ पण्डित पहले मिलते रहे हैं वे सम्प्रदाय के अनुकूल ही बोलने को प्रतिबद्ध थे। चूंकि गुजरात ने स्वयं ही सहजानन्द को गुरु और भगवान् बनाया था। इससे उनके वचन सुनते रहने को ही प्रतिबद्ध था, उनकी स्थापना के विरुद्ध तर्क करना उसकी स्वयं की मर्यादा के विपरीत था। संगठन से बाहरी लोगों ने बहुत से हिंसात्मक विरोध भी किये थे किन्तु उनके पास शास्त्रीय संगठन का बल नहीं था, वे स्वयम् पथभ्रष्ट थे।

***

चेले बतायें

सहजानन्द दो ब्रह्म नपुंसकों वाला वेदान्त पढ़ाकर चले गये। चेले पारंगत होकर सहजानन्द वेदान्त की परीक्षा चलाने लगे हैं। कबीर पन्थियों ने अपना वेदान्त आजतक क्यों नहीं चलाया यह सोचने की बात है। उनके पास गुजरातियों की तरह धन न होने से सोच नहीं पाये होंगे या शांकर वेदान्त को ही अपना मान रहे होंगे। सहजानन्दी ईश्वर से ऊपर दो ब्रह्म मानते हैं इससे शांकरों से स्वयं को अलग दिखलाना चाहते हैं इससे अलग हो रहे हैं। अस्तु, सन्तों की गोष्ठी में सम्राट् के दो चामरों की तरह ब्रह्म के दो लक्षण बतलाये जाते हैं, लक्ष्मीपतित्व और जगद्व्यापार। सहजानन्दी दोनों ब्रह्म नपुंसक हैं इससे न उनके पास लक्ष्मी है न वे जगत् की सृष्टि कर सकते हैं। बादरायण ने ब्रह्म का लक्षण "जन्माद्यस्य यत:" बतलाया है। गोपालानन्द ने उक्त सूत्र का भाष्य भी रचा है। अब पढ़े चेले बतलायें कि अपने माने निष्क्रिय ब्रह्म के लक्षण क्या हैं और वे लक्षण प्राचीन ग्रन्थों में कहाँ हैं, फिर यह बतलायें कि दो ब्रह्मों में एक स्वामी और दूसरा सेवक क्यों हो गया। फिर दूसरा ब्रह्म चतुर्व्यूहों में क्यों नहीं गिना गया एवं सृष्टि कर्म के अभाव में चतुर्व्यूहों की क्या उपयोगिता है। अब के चेले यह भी बतलायें कि सहजानन्द के अवतार कृष्णवल्लभ पटेल ने श्री वैष्णव दर्शन से अपने तथाकथित दर्शन के पचासों भेद बतलाने का कष्ट उठाया पर अपने जनक शांकरों से भेद एक भी क्यों नहीं बतलाया। कृतघ्नता की पूर्ति तो जनक से भेद दरसाने में ही होती है। यदि कहें कि "मतं विशिष्टाद्वैतम्मे" इस गुरु वचन से समाज में फैल रही भ्रान्तियाँ रोकनी थी इससे उन्हें लिखना पड़ा तो चेलों को पहले अपने गुरु के द्वारा फैलायी गयी सारी भ्रान्तियों की सूची बनानी चाहिये। पहले तो चेलों को यह पता लगाना चाहिये कि हमारे गुरु ने पढ़ा ही कितना था कि शांकर दर्शन से स्वयं को दूर कर लिया और किस औकात के बल पर यह लिख मारा कि "मतं विशिष्टाद्वैतम्मे"। शायद बाल बुद्धि से उन्होंने मान लिया था कि सारा भारत गुजरात ही है। शिक्षापत्री शतानन्द का भाषाज्ञान सूचित करती है और वचनामृत सहजानन्द को बदलते सत्संग से मिला कुछ शास्त्रगन्ध का संकेत देता है। यही दो आधारभित्तियाँ हैं इनके तथाकथित अभिनव महान् सम्प्रदाय की। इन्हीं दो पर थोड़ा पढ़े धनमदान्ध गुर्जर साधु फूले नहीं समाते और किसी भी दूसरे को आदर देना नहीं जानते। चेले यह भी बतलायें कि कृष्णवल्लभ ने श्री वैष्णव समाज से अपने पचासों भेद तो बतलाये किन्तु समानता एक भी नहीं कही तो उन्होंने या और चेलों ने "मतं विशिष्टाद्वैतम्मे" से आज तक क्या समझा? मैं तो समझता हूँ कि दक्षिणी श्री वैष्णव भूदेवों को बुलाने का उनका यह एक अर्थहीन मन्त्र है। यदि चेलों ने कुछ अर्थ समझा हो तो अब भी बतला सकते हैं।

सहजानन्द ने किसी श्री वैष्णव आचार्य का श्रद्धा से अभिवादन किया हो और उनकी सहानुभूति प्राप्त की हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है तब उन्हें विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त कैसे समझ में आया होगा? तब "मतं विशिष्टाद्वैतम्मे" लिखवाना और छपवाना दम्भ मात्र ठहरता है। वैसे ही अपने प्रवचनों में भागवत के श्लोक उद्धृत करने पर भी, चेलों को भागवत पढ़ने सुनने की सलाह बार बार दे चुकने पर भी वे भागवत

के मर्मज्ञ नहीं ठहरते। भागवत तो पद पद पर इनके तथाकथित गुणातीत और अक्षरातीत के विरोध में ही बोलता है। कोई भागवत का मर्मज्ञ हो और सहजानन्द का अनुयायी भी हो यह सर्वथा असम्भव है। इस संगठन का एक साधु भागवत बाँच लेता है। गुजरात में सैकड़ों जगह कथा कर चुका है। मैंने उससे भागवत के कुछ सन्दर्भ पूछे, उसे उत्तर नहीं आया। मैंने समझ लिया कि इस अज्ञान से ही यह सहजानन्द को मानता है। सहजानन्द ने श्रीमद्भागवत का कोई भी सन्दर्भ श्रद्धा से नहीं पढ़ा था। आदि मध्य अन्त कहीं भी श्रद्धा से पढ़े होते तो अपना अघोरी सम्प्रदाय नहीं बनाते। तटस्थ प्रेक्षक देखें कि प्रथम स्कन्ध अध्याय 18 के श्लोक 19 से 22 तक क्या कहते हैं? विष्णु को ही परब्रह्म कहते हैं। दशम स्कन्ध की वसुदेव स्तुति और देवकी स्तुति क्या सूचित करती है? सर्वोपरि तत्त्व को ही विष्णु कहती है। बारहवें स्कन्ध के अध्याय 12 के श्लोक 45 वें से अन्त तक क्या कहते हैं। परतत्त्व के रूप में विष्णु को ही प्रस्तुत करते हैं। अब चेले समझ कर बतायें कि गुरु ने भागवत पढ़ने का सुझाव क्यों दिया था। चेलों को आज तक इस ग्रन्थ से अपने सम्प्रदाय का क्या मिला। और अपना फर्जी सम्प्रदाय त्यागने की सही प्रेरणा आज तक इस ग्रन्थ से किसी को क्यों नहीं मिली। वास्तव में अज्ञान मोह और दुराग्रह के बिना सहजानन्द का पिछलग्गू आज तक कोई नहीं हुआ। चेले फिर विचारें कि भागवत के ग्राहग्रस्त गजेन्द्र ने अपनी रक्षा के लिये जिसे पुकारा उसे परात्पर तत्त्व कहा, विष्णु श्रीपति आदि नामों से नहीं पुकारा फिर भी उसकी रक्षा के लिये गरुड वाहन आये। उस समय सहजानन्द के माने हुए अक्षर और पर क्या कर रहे थे। वे क्यों नहीं आये। परतत्त्व को बुलाया गया और नीचे वाला दौड़ पड़ा, ऐसा क्यों हुआ? यहाँ चालाक चेले कहेंगे कि ऊपर वाले की प्रेरणा से विष्णु वहाँ पहुँचे। यहाँ चेलों को ध्यान रखना चाहिये कि भगवद् यामुनाचार्य ने पर ब्रह्म से ऊपर भी दो ब्रह्म माने हैं तब चार में से प्रेरक कौन हो सकता है। सही उत्तर के लिये चेलों को शास्त्र रहस्य समझने होंगे।

शलभ उड़ें आकाश में, रुकता नहीं प्रकाश।
दम्भी नाचें ढोल ले, रवि को क्या हो त्रास।

***

एक अद्भुत साधु स्वामिनारायण

सुजन्मा सद्विद्यः श्रुतिगणरहस्यप्रवचनः,
स्वतः सिद्धैर्योगैस्त्रिभुवनजनानां गुरुरहम्।
मृषैवं जल्पन्तो बहव इह कालेन गिलिता,
न मिथ्या सत्यत्वम् भजति वितथोपायशतकैः॥
दुरुद्योगैर्भोगैर्विहतमनसां दम्भगुरवो,
भवन्त्येवेत्येष प्रकृतिनियमो न प्रतिहतः।
अतो नानामार्गाः श्रुतिसरणिदूराः सुगतवत्,
प्रथन्ते नाश्चर्यम् भवजलधि सीमा न सुगमा॥
दुर्मततत्त्वाधारा गुर्जरेऽपि सन्ति साधु वेदान्ताः।
अविदितसुचारभारा बहवः समुद्रेऽपि किल सन्त्यश्वाः॥
व्याजीकृत्य मुमुक्षां ये त्विहवित्तमानाय यतमानाः।
तेषां वितथा वाचो मिथो विरुद्धा भवन्ति ननु नाना॥

भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है, कृषि प्रधान होने से अज्ञान प्रधान भी है। यह धर्म प्रधान भी है, इससे मठ-मन्दिरों वाला और साधु सन्तों वाला भी है। जिस अनुपात में यहाँ साधु सन्त मिलते हैं उसमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। इस तरह यह देश प्रमुख रूप से अज्ञान ही पालता है। कृषि में अज्ञान आवश्यक होता है। धर्म में और साधु सन्तों की सेवा और उनके शिष्यत्व के लिये भी अज्ञान आवश्यक होता है। यह बात अटपट सी लगती है पर व्यवहार में यह पूरा सही है। देश में कनफुंकवा गुरुओं और चेलों का बाहुल्य चिरकाल से है। चेले गुरुओं को भगवान् ही मानते हैं, उनके वचनों की समीक्षा न करके पूरी श्रद्धा से पालन करते हैं। दम्भी गुरु चेलों की अन्धश्रद्धा से अनुचित भी लाभ उठाते रहते हैं। कुछ लोग पिछले संस्कारों से साधु बन जाते हैं। साधुता भावुक मन की एक अस्पष्ट अवस्था होती है। किसी अज्ञात प्रेरणा से साधु घर छोड़कर नयी दिशा में विचरण करने लगता है। उसे आत्मकल्याण का स्वरुप और उपाय दोनों अज्ञात रहते हैं। कुछ ज्ञात रहने पर भी ज्ञात उपाय के अनुरुप जीवन नहीं बना पाता। पिछले संस्कार उसे अपने साँचे में ही ढाले रहते हैं। इससे अधिकांश साधुता अधूरी ही रहती है। किसी न किसी मार्ग से साधु अर्थ काम के चक्कर में पड़ा ही मिलता है। यह दोष

उन साधुओं में भी मिलता है जो भगवान् माने जाते हैं या भगवान् के करीबी माने जाते हैं। संसार रुपी काजल की कोठरी से बेदाग कोई भी साधु नहीं निकला है। अपनी त्रुटियाँ छिपाने के लिये चेले अपने गुरु को भगवान् घोषित करके उनके वचनों को समीक्षा से बचाते हुए स्वयं बच लेते हैं। यद्यपि भगवान् अणु-अणु में व्याप्त हैं किन्तु जीवों के प्राचीन कर्म भगवान् को पूरा पूरा ढ़के रहने में विफल नहीं होते। भगवान् को न समझ पाना मानव की नियति है। उन्हें उलटा समझ लेना बुरी नियति है, उससे सही समझने में बाधा होती है। मानव की नासमझी ने हजारों को भगवान् बनाया और दफनाया। कुछ को उनके जीवन के बाद बनाया, बना रही है, बनायेगी भी। जिसे बहुत महान् समझा उसे भगवान् क्यों न घोषित करे। घोषणा से ही तो कोई भगवान् बनता है। वासुदेव कृष्ण को ऋषि गर्ग से लेकर भीष्म पितामह तक ने सैंकड़ों बार भगवान् घोषित किया तब समाज ने उन्हें भगवान् माना, पर धृतराष्ट्र की औलाद और उनके दोस्तों ने सारे आकारों को भगवान् मानने से इनकार कर दिया, जबकि वेदादि शास्त्रों का यह अनादि डिण्डिम घोष है कि सारे आकार भगवान् के ही हैं वे सेव्य, पूज्य और मोक्ष दायक भी हैं। वेदों के अनुसार भगवान् और गैर का भेद करना बड़ा खतरा है। **"द्वितीयाद् वै भयम् भवति"** यह घोष कम सुनने वाले स्वार्थियों के कान तक नहीं पहुँचता। सर्वत्र भगवान् की उपस्थिति और सारे रुपों को भगवान् का ही मानने का सौभाग्य सन्निहित मुक्ति वालों का ही होता है। यह सौभाग्य उनका नहीं होता जो स्वार्थ के लिये अपनी बनावटी साधुता की भी बलि अपने दम्भ देव को देते रहते हैं। उनका दम्भ श्रद्धाजड़ चेलों के सामने खुलता भी रहता है। फिर भी उनका मूल सबसे ऊपर ही रहता है। **"ऊर्ध्वमूलम् अधः शाखम्"।**

***

भगवान अनन्त, व्यापक या एकदेशी

शास्त्रैकगम्य परमात्मा के सम्बन्ध में मन्दमतियों की गोष्ठियों में साकार निराकार, भिन्न अभिन्न, व्यापक अव्यापक आदि विकल्प होते ही रहते हैं। अपने अज्ञान से कोई विकल्प चुनकर उसे ही अपना सिद्धान्त मान लेना उनकी जबरदस्त लाचारी होती है। शास्त्रज्ञान से पहले उनकी लाचारी जाती नहीं और शास्त्रज्ञान वृद्धों की निश्छल

सेवा के बिना हो नहीं पाता। आज प्रेसों की बहुलता से बहुत लोग कुछ कुछ पढ़ सुन कर स्वयं को वेदान्ती मानने लगे हैं। अपने सीमित ज्ञान का उपयोग वे अपने अलग सम्प्रदाय की स्थापना और रक्षा में कर रहे हैं। उनका सोचना है कि जब देश में वेदान्त की बहुत सी अन्धी गोष्ठियाँ चल ही रही हैं तो हमारे पुराने दम्भी या अज्ञानी गुरु की भी गोष्ठी क्यों न जारी रहे। भविष्य जैसा दूसरों का होगा वैसा हमारा भी क्यों न हो। ये वही हैं जिन्हें श्रुति कहती है–**"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा"** मृत्यु भय के बिना वेदान्त आज तक किसी की समझ में नहीं आया है। प्रमाद मृत्युभय को टालता रहता है।

***

अज्ञान और भगवान्

वेदादि शास्त्रों के अनुरुप प्रज्ञा बिरलों को होती है। उसके अभाव में तत्व विरोधी वासना जागरुक रहती और वेदादि के विरुद्ध तर्क खड़े होते हुए अपेक्षित ज्ञान रोकते रहते हैं। अनुरुप वासना और प्रज्ञा, शास्त्रीय यथार्थ ज्ञान जल्दी करा देते हैं। हृदय में पाखण्ड जमने नहीं देते। अज्ञान अवस्था में भगवान् कैसे मिलते हैं यह देखिये। अंग्रेजी शासन के समय झारखण्ड के उरावँ आदिवासी बहुत कम शिक्षित थे। सुरामांस में ज्यादा लिप्त रहने से उनमें राष्ट्रियता नहीं थी। उन में अंग्रेजों के खिलाफ राष्ट्रियता लाने की तरकीब गान्धीजी के लोगों ने सोची और विरसा नामक एक युवक को कुछ प्रशिक्षणों से तैयार किया। वह बोलने लगा। बातों से उसे आदिवासियों ने भगवान् मान लिया, सुरामांस आदि निन्दित द्रव्यों से मन को टानने (खींचने) से वे टाना कहलाये। अब वह विरसा भगत से विरसा भगवान् हो गया। तीर धनुष वाली सेना तैयार करके अंग्रेजी शासन के खिलाफ हमला बोल दिया। तब अंग्रेजों ने उसे पकड़ कर राष्ट्रद्रोह का मुकदमा चलाया और फाँसी पर लटका दिया। किन्तु वह तो अपने संगठित टाना भगत दल का भगवान् था। उसकी लाश दफना कर भी दल ने उसकी मौत स्वीकार नहीं की। वे मानते रहे कि हमारा भगवान् अभी भी हमारा साथ दे रहा है और हमारे बीच कभी आयेगा भी। उसके अन्तरंग भगत लोग उसके आने की भविष्यवाणी सुनाने रहे और सभी लोग उसकी प्रतीक्षा में रहते थे। तब कुछ दूर के एक धूर्त ने भगवान् बन कर उनका दोहन ठाना। उसका नाम था भंघा गोड़ाइत। एक दिन

शाम को उनके गाँव के एक पीपल की ऊँची डाल पर बैठ गया और बकरी चरा रहे बच्चों से अपने आने की सूचना भेजी। सातवें आसमान से पीपल के ऊपर तक लम्बी सफर करके आये भगवान् के दर्शन के लिये व्याकुल टाना भगत पेड़ तक दौड़ पड़े। वहाँ जमीन पर सिर रख कर प्रणाम किया और वही सब भजन गाने लगे जो सदा गाते थे। अपने पीछे भगतों की भीड़ देख कर दम्भी भगवान् प्रफुल्लित हो उठा। बोला कि तुम्हारे भजनों से हमको तुम्हारे पास आना पड़ा। अवतार लेने में टाइम बरबाद होता है इससे खुद ही मैं भंघा गोड़ाइत बन कर आ गया। हमारे आने से अब देश आजाद हो जायेगा, अंगरेज भागेंगे। तुम्हारा लगान नहीं लगेगा। तुम लोग लाल टमाटर और लाल मिर्चा नहीं खाते हो, गले में मोटा सूत बान्धते हो। तुम्हारी इस भगती से मैं बहुत खुश हूँ। अब तुम्हारा सब काम पूरा होगा। हम को याद रखना भजन गाते रहना। अपने भगवान् के ये वरदानी वचन सुन कर अन्ध श्रद्धा से दब रहे सारे भगत गद्गद् हो गये और बोलने लगे कि हम प्रार्थना कर रहे हैं कि पेड़ से धरती पर आइये और हमारे घर पर चल कर हमको सेवा पूजा का अवसर दीजिये। पेड़ पर बैठे भगवान् ने भक्ति की शुद्धि छान ली, भक्तों के घर चल पड़े। अपने साथ चल रहे भगवान् से उन भगतों के आनन्द का क्या कहना था। जंगल में उनके पास करंज का तेल था। वे बारी बारी से अपने भगवान् के पैर पर मलने लगे। पानी गरम करके भजन गा गा कर अपने अपने हाथ से नहलाया, अपने हाथ से बनाये मोटे नये कपड़े पहनाये। मिल के कपड़े वे नहीं छूते थे। गान्धीजी ने मना किया था। अपने हाथ से बनायी नयी चटाइ बिछाकर उस पर नया मोटा मजबूत गमछा बिछा कर बैठाया और बाजे बजा बजा कर गीत गाने लगे। वे भगत थे इससे चमड़े वाला बाजा नहीं छूते थे। बाद में भोजन के बारे पूछने पर भगवान् ने कहा कि तुम सब खाना बनाओ मैं तो सिर्फ एक मुट्ठी चावल की खीर बनाऊँगा जो पूरे गाँव के लिये हो जायेगी। अपने भगवान् का यह चमत्कारी गुण सुन कर सब टाना स्तम्भित रह गये। उसने चार अंजली चावल डाल कर बहुत खीर बनायी पर श्रद्धान्ध टानाओं ने उसके वचन के अनुसार एक मुट्ठी चावल की ही चमत्कारी खीर मानी और अपने भगवान् के हाथ से प्रसाद लेकर उस अमृत का स्वाद लूटा जो देवताओं को भी नसीब नहीं था। रात्रि विश्राम के बाद भगवान् ने प्रेम से समझाया कि अब तुम्हारे घर के

काम शुरु होंगे, पहले मुझे विदा करो, बाद में अपने काम शुरू करना। तब वह समय आ गया जब पशुओं की सेवा भगवान् की सेवा पर भारी पड़ने लगी। टाना भगतों ने अपने मन को भगवान् से भी टान लिया और देने लायक जो भी कुछ उनके पास था वह देकर विदा किया। विदा करके लौटते समय कुछ लोग मिले और पूछा, कहाँ गये थे, वे बोले कि हम लोग अपने भगवान् को पहुँचाने गये थे। वे बोले कि वह तो भंघा था, उसे हम पहचानते हैं। तब टाना बोले कि तुम्हारे लिये वह कोई भी होगा पर हमारा तो वह भगवान् ही था, हमने उसे ठीक से परखा और पहचाना। तब वे लोग टानाओं की पत्थर भगति पर स्तब्ध रह गये।

यहाँ जानना यह है कि टाना भगतों को भगवान् नहीं मिले यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि **"यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्री मद् ऊर्जितमेव वा, तत्तदेवावगच्छ त्वम् ममतेजोंऽशसम्भवम्"** इस गीता वचन के अनुसार प्रभावी पूज्य श्रद्धा के पात्र महान् सारी मूर्तियाँ भगवान् की ही हैं, उनके तेज के ही अंश हैं। विश्व में उनके तेज के अंश का ही दर्शन हो पाता है। परिपूर्ण अनन्त भगवान् का दर्शन विश्व में किसी को नहीं हो पाता, कर्मबन्धन की स्थिति में पूर्ण का दर्शन असम्भव होता है। तांगे के घोड़े की आंखों के बायें दायें भाग में पट्टी लगी होती है इस से वह अपने गन्तव्य मार्ग से हट कर कुछ नहीं देख पाता। इससे यदि परिपूर्ण प्रभु भी सामने आ जायें तो एक कर्मबद्धजीव को उनका दर्शन अधूरा ही हो पाता है।

टाना भगत भारतीय समाज में बहुत ही पिछड़े लोग थे। आज भी संस्कारों से वे पिछड़े ही हैं। उनकी भगति देश को अंग्रेजों के चंगुल से छुड़ाने के लिये थी। अंग्रेजों के जाने से उनसे लगान कोई नहीं मांगता। लगान से मुक्ति ही उनकी भगति का बड़ा फल था। गान्धी बाबा (महात्मा गान्धी) को वे वैसा ही समझते थे जैसा गुजराती लोग स्वामिनारायण को आज समझते हैं। गान्धी जी अपनी जान की बाजी लगाकर वही सारे कर्म कर रहे हैं जिनसे टानाओं के ऊपर से लगान का बन्धन मिट जाये उनकी ऐसी धारणा उनके विरसा भगवान् ने बना दी थी। लगान के बन्धन से हटकर कर्म बन्धन या संसार बंधन समझने की मानसिकता उनकी नहीं थी। इससे गान्धी बाबा को वे सबसे बड़ी सत्ता मानते थे। देश के दूसरे बलिदानियों के

बारे उन्होंने कुछ भी सुना समझा नहीं था। विरसा भगवान् उनका वैसा ही सेव्य था जैसे स्वामिनारायण पन्थ वालों का अक्षर ब्रह्म।

गुजराती साधुओं से झारखण्डी टाना भगतों की तुलना सर्वथा अनुचित है। दोनों में कोई समानता नहीं है। टानाओं ने किसी से पूछे बिना ही गान्धी बाबा और विसरा भगत को भगवान् माना जबकि गुजरातियों ने स्वामिनारायण के कहने पर उन्हें भगवान् माना। विरसा भगत में गान्धी बाबा का सुना सुनाया लक्ष्य निकट से देखा इससे उसे निकट का भगवान् माना। गुजरातियों ने दूर के भगवान् राम कृष्ण आदि की उपेक्षा कर दी पर कृतज्ञ टाना आज भी गान्धी बाबा की कांग्रेस पार्टी को ही वोट दे रहे हैं। उनके भगवान् के बहुत से मन्दिर हैं, बहुत सी पुस्तकें हैं, अपने सम्प्रदाय को बढ़ाने के जारी उपाय हैं। इनका ऐसा कुछ नहीं है। उनसे ईसाई मुसलमान और अन्य हिन्दू भी अपना खतरा मानते हैं जबकि इनसे तीनों वर्ग सन्तुष्ट हैं। उनका प्रचार भारत से बाहर भी बहुत है जबकि इन्हें भारतीय भी कम जानते हैं। उन्हें अपने अस्तित्व की चिन्ता आज भी बहुत है, इनकी भारत सरकार सबसे बड़ा अस्तित्व है। उन्हें मोक्ष में द्वैत-अद्वैत की चिन्ता अब भी है जबकि इनका मोक्ष 15 अगस्त 1947 को ही हो गया। दोनों में और भी बहुत अन्तर हैं इससे तुलना अनुचित है।

* * *

स्वामी नारायण का अलग सम्प्रदाय

अयोध्या से कुछ दूर छप्पैया नामक गाँव में पाण्डेय ब्राह्मण परिवार में जन्मा एक संस्कारी बालक शुरु से ही अपनी एक अलग पहचान बनाने की ठाने था। बारह साल तक हिन्दी संस्कृत में सामान्य योग्यता अर्जित कर अपने उद्देश्य के लिये उसने भारत भ्रमण शुरु किया। भ्रमण काल में साधुओं की संगति से सम्प्रदायों का सामान्य ज्ञान उसने अर्जित किया। चूंकि उसे एक नया ही मनगढ़न्त पन्थ चलाना था इससे किसी भी परम्परा में आस्था नहीं पा सका। जीवनवृत्त के अनुसार वह एक योग भ्रष्ट पुरुष था। कुछ कुछ चमत्कारी कृत्य उससे होते रहते थे इससे सामान्य जनता उसे भगवान् कहने लगी। इससे उसे अपना उद्देश्य जल्दी ही साकार सा लगने लगा। उन्नीस वर्ष की अवस्था में वह लोया (गुजरात) में रामानन्द नामक उस साधु से मिला जो पहले प्रयाग में रहता था और उसके

माता-पिता को वैष्णव दीक्षा दी थी। पूर्व परिचय से वह अधिक ही प्रभावित हुआ और अपनी दीक्षा देकर उसके बारे में जनता में प्रचार कर दिया कि इसे भगवान् ही समझना। यह राम कृष्ण आदि अवतारों से अधिक ही कार्य करेगा। भावुक गुजराती जनता उसे भगवान् मानकर पूजने लगी। तब वह जन साधारण में उपदेश करने लगा। लोगों के हृदय में भगवान बनकर बैठ जाने की आकांक्षा से उसने ऐसे भी कुछ वचन कहे जो उसे भगवान् सिद्ध करनें में सहायक थे। भक्तों ने उसके उपदेशों का संकलन किया है जो गुजराती में वचनामृत नाम से प्रचलित है। संकलन की विशेषता है कि प्रत्येक उपदेश का दिन तिथि मास स्थान आसन और उपदेश की मुद्रा, पूछने वाले और सुनने वाले भक्तों के नाम भी अंकित हैं। इस वचनामृत संग्रह से उसकी पूजा और प्रतिष्ठा में काफी बढ़ोतरी हुई। तब अपनी पूजा को ही परम पुरुषार्थ मान रहे इस भ्रष्ट योगी ने अपने बाद भी पूजा जारी रखने के लिये अपनी निगरानी में जल्दी-जल्दी छः मन्दिर विभिन्न स्थानों पर बनवाये और सर्वत्र गर्भगृह में अपनी मूर्ति रखवायी। तब से दुनियाँ में स्वामिनारायण मन्दिर जाना गया और इसमें इस व्यक्ति को असली भगवान् मानकर पूजा जाने लगा तथा राम, कृष्ण, वामन आदि और नर-नारायण आदि पिछड़े एवम् असमर्थ भगवान् माने जाने लगे। इनकी अयोग्यता और असमर्थता का संकेत इस साधु के वचनों से तो मिलता ही है पर मन्दिर में अन्य अवतारों और रूपों का गौण रूप से विन्यास के द्वारा भी मिलता है। मन्दिर निर्माण में तेजी लाने के लिये इस साधु ने मजदूरों के साथ मिलकर स्वयम् पत्थर ढ़ोये हैं। गढ़पुर के मन्दिर के द्वार पर रखा एक पत्थर बहुत भाग्यशाली है। उसे सभी भक्त छूकर प्रणाम करते हैं। प्रसिद्धि है कि इस भारी पत्थर को स्वयं स्वामी नारायण ने अपने सिर पर लाकर रखा है। यह बिना प्रतिष्ठा के पूजा जाता है और स्वामी नारायण का मूक आर्शीवाद देता रहता है।

भारत में और विश्व में शायद ही एक ऐसा साधु हुआ है जिसके भगवान् होने की अन्धी गवाही हजारों लोग दे रहे हैं और वेद-पुराणों के ईश्वरीय रूपों को भूलकर इसे ही असली भगवान् कहते हुए पूज रहे हैं। इसके नाम पर हवन भी हो रहा है-**"अवतारिणे स्वामिनारायण स्वाहा"** कह कर। अग्नि देवता यह आहुतियाँ कहीं पहुँचाते हैं या नहीं। इसका पता लगाना नास्तिकता होगी, इस डर से भक्त लोग इधर नहीं सोचते।

गिरा पत्थर गगन से ही, गया बह वह सलिल होकर।
न पूजा जा सका इससे, शिकायत करें हम किससे॥
न होते स्वामिनारायण तो कैसे साधु ये मिलते।
न होता पंक पल्वल तो कुमुद ये किस तरह खिलते॥

***

गुजरात के नये गुरु भगवान् और उनके वचन

गुजरात के नये गुरु भगवान् सहजानन्द और उनके वचन अब समीक्षा के योग्य हो गये हैं। क्योंकि एक गुजराती साधु कृष्ण वल्लभ अपने मरने से पहले स्वयं को भगवान कहलाया और उसके चेले अब उसकी प्रतिमा स्थापित करके भगवान् स्वामी नारायण नाम से पूज रहे हैं। इस साधु ने पहली बार गुरु द्रोह का बीज बोया था, उसके अनुकरण पर बाद वाले उस द्रोह वृक्ष को पल्लवित पुष्पित करने लगे हैं। पहले तो ये स्वरचित भ्रम जाल में स्वयं ही मकड़ी की भांति घूम रहे थे पर अब उसमें दूसरों को भी फंसाने की कुचेष्टा करने लगे हैं। मानव अज्ञान में ही जीना ज्यादा पसन्द करता है इससे सत्य की उपेक्षा करता रहता है। यही कारण है कि गुजराती साफ दीख रहे झूठ को भी सत्य कहते हैं। अज्ञानमय भाषा सन्दर्भ को वेदों से ऊपर रखना चाहते हैं, परिश्रम से अर्जित अपार धन पत्थर की पूजा में लगा देते हैं, आदि काल से पूजित भगवान् की प्रतिमा को किनारे रखकर अज्ञानी मानव की विशाल प्रतिमा मध्य में रखकर उसे साष्टांग प्रणाम करते हैं। अपने इस अपराध को एकान्तिक धर्म कहते हैं। धर्म ही नहीं, इसे ही मोक्ष भी माना करते हैं। जानते होंगे कि मरने के बाद दुर्गति ही होनी है इससे अपनी दिनचर्या को ही मोक्ष मानते रहें। इनके गुरु ने मरने के बाद भी मोक्ष बतलाया है पर यह भी समझा दिया है कि तुम्हारा जीवन ही अच्छा मोक्ष है, मरने के बाद मोक्ष की कल्पना अपराध है। ऐसे ही अर्थों से उनके वचन अमृत नाम पा रहे हैं।

सहजानन्द का जन्म शतानन्द को सपने में मिली जानकारी के अनुसार तीन अप्रैल सन् 1781 को रात दस बजे हुआ था। उस दिन राम नवमी थी। सपने में शतानन्द को यह भी पता चला कि जन्म के तीन महीने ग्यारह दिन के बाद चिरंजीव मार्कण्डेय मुनि सामान्य ब्राह्मण के वेष में उनके घर पहुंचकर उनके माता-पिता से मिले और

जन्म नक्षत्र पुष्य मान कर हरि नाम दिया। यह झूठी कल्पना या सपना पुस्तक में दर्ज यह सोचकर किया गया होगा कि कोई व्यक्ति ध्यान नहीं देगा। किन्तु ध्यान गया, उनके जन्म के समय पुष्प का चौथा चरण था। हरि नाम पुनर्वसु में सम्भव है। चेले फिर से समझें कि हरि नाम कैसे पड़ा। मार्कण्डेय मुनि को बुलाकर उन्हें अयोग्य ठहराये बिना मानो इनके भगवान की प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। यह झूठ सहजानन्द नहीं बोले हैं, यह तो अन्ध भक्त गुजरातियों की चपलता है। ऐसी ही चपलताओं से भरी है सारी कथा स्वामिनारायण की। वे कुछ कारणों से कुछ झूठ बोले होंगे। उस झूठ को और बहुत झूठों से सजा दिया गुर्जर बन्धुओं ने।

अपने इस नये गुरु भगवान् के भक्त उनके वचनों की सत्यता उपयोगिता और उपादेयता पर चाहे जितना सोचें जानें मानें और बोलें पर इतना तो उन्हें मानना ही होगा कि जो बातें इनके मन में नहीं आयीं और नहीं मानीं वह इस संग्रह में नहीं है। प्रवचन मुक्ति के लिये है, इससे मुक्ति के लिए अवश्य अपेक्षित जो बातें तर्क प्रमाणों से मान्य हैं उनका निवेश यदि इस संग्रह में नहीं हो पाया हो या प्रभावी रूप से न हुआ हो या कुछ असत्यों के घेरे में आ गयी हों तो ग्रन्थ अधूरा होगा। तब मुमुक्षुओं को अन्य ग्रन्थों के अध्ययन और परिशीलन से अपना पाथेय पूरा करना होगा। किन्तु ऐसा सोच उनके बनाए साधुओं में नहीं मिलेगा। कोई साधु यदि थोड़ा सा संस्कृत सीख लेता है तो भागवत कथा के नाम से कुछ अधूरे प्रवचन भजन कीर्तन करके अपने वेश की वरीयता जमाया करता है। यह वचनसंग्रह मोक्ष तत्त्व को कितना प्रकाशित करता है, मोक्ष में कितनी रुचि बढ़ाता है या परमात्मा के कौन-कौन से रूपों पर मोक्ष के लिये ध्यान जमाने का सुझाव देता है ऐसा चिन्तन देखा नहीं जा रहा है। पांच तत्त्व समझने से पहले मोक्ष मार्ग में क्या-क्या कठिनता थी और अब वह कैसे दूर हो गयी हैं इत्यादि उपयोगी बातों की चर्चा कहीं गुजरात में देखी सुनी नहीं जातीं। इस नये गुरु भगवान् के प्रति अन्ध भक्ति अवश्य देखने को मिलती है। अन्ध भक्ति सहज प्रज्ञा को संकुचित करके उदार निर्वाण पथ से विमुख बना देती है, तब मुमुक्षुता ही बाधित हो जाती है।

वचनामृत पूर्वापर निरपेक्ष उपदेशों का एक संग्रह है। यह संगतिबद्ध कोई ग्रन्थ नहीं हैं ग्रन्थ का एक मुख्य तात्पर्य होता है जो उपसंहार

वाक्य से समझा जाता है। एक दिन के उपदेशों में भी अनेक प्रश्नों का आधार है, उत्तर भी समग्र नहीं है, जैसे किसी ने माया का परिचय पूछा तो ध्यान के समय विघ्न के रूप में जो मन में आता है वह माया है ऐसा उत्तर मिला। यह माया का शास्त्रीय परिचय नहीं हुआ, एक छोटा सा उदाहरण रह गया। ऐसे बहुत से प्रश्नों के उत्तर अधूरे हैं। सहजानन्द ने स्वयम् भी प्रश्न करके उत्तर दिये हैं, बहुत से उत्तर उदाहरण मात्र हैं या कहीं लक्षण हैं तो वे भी लक्ष्य में घटाकर और शास्त्रीय आधार पर प्रस्तुत नहीं हुए हैं। परमहंस और मुनि कहलाने वाले सन्तों ने भी जो प्रश्न किये हैं और जैसे उत्तर पाकर वे सन्तुष्ट हुए हैं उससे यही मानना पड़ता है कि वे शास्त्रीय भाषा बोलने पूछने और समझने में अक्षम थे।

कठिन गम्भीर प्रश्नों के सरल सुबोध उत्तर दिये गये हैं, इस तरह के प्रशंसात्मक वाक्य लिखने–छापने मात्र से ग्रन्थ का गौरव नहीं बढ़ जाता। श्रोता नहीं पूछते तो सहजानन्द उत्तर नहीं देते, उत्तर भी उन्होंने दो कारणों से सीमित और अधूरे या गलत दिये हैं। कहीं उनका चिन्तन ही अधूरा या विपरीत था और कहीं श्रोता अल्पज्ञ थे। जब श्रोता कुछ भी पूछने की स्थिति में नहीं थे तब वक्ता ने स्वयम् प्रश्न किया था। सर्वप्रथम उन्होंने स्वयम् प्रश्न करके जो भी उत्तर दिये हैं वे गुजराती अशिक्षितों के लिये वेदवत् मान्य हो सकते हैं पर कोई भी दर्शनिक वैसा सुनना बोलना पसन्द नहीं करेगा न प्रामाणिक मानेगा। इस तरह शुरू से ही उनके वचन भ्रमजाल फैलाने वाले हैं। उनके सारे वचनों को वेदवत् प्रमाण और मोक्ष दायक ठहराने का दायित्व गुजरातियों का है। उन्होंने ही उन्हें भगवान् घोषित किया है। कागज की नाव कागजी मनुष्यों को ही कागजी गंगा पार पहुंचा सकती है। शतरंज की गोटियों से ज्यादा अन्तर सहजानन्द के नाम से बने इस समूह में नहीं है।

गुजराती जन अपने गुरु के नाम के बारे में भी भ्रम में हैं। स्वामी रामानन्द ने दीक्षा का नाम सहजानन्द रखा था इससे उनका नाम सहजानन्द ही मान्य है। हर व्यक्ति को नारायण ही समझने और नारायण नाम से ही सम्बोधित करने का अभ्यास शंकराचार्य की परम्परा में है। इस भावना से उन्होंने अपने प्रिय नये शिष्य को नारायण कहा होगा। किसी भी शिष्य को एक साथ दो नाम कोई भी गुरु नहीं

देता। नाम के अन्त में आनन्द शब्द जोड़ते हैं। आनन्द ब्रह्म को ही कहते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म को आनन्द कहा गया है। साधु रामानन्द अपने शिष्य का नाम सहजानन्द रखें यह स्वाभाविक है। सिर्फ चार अक्षरों का नाम नारायण शूद्र पर्यन्त गृहस्थों में देखा जाता है। पतित अजामित ने एक सन्त के सुझाव पर अपने पुत्र का नाम नारायण रखा था। स्वामिनारायण नाम तो कोई गुरु अपने शिष्य को देगा ही नहीं। साधु लोग सम्माननीय व्यक्ति को स्वामी कहते हैं। शिष्य अनुकम्पनीय होता है, उसके प्रति अनुकम्पा ही गुरु का दायित्व होता है, श्रद्धा या सम्मान नहीं। साधु रामानन्द ने अपने मठ का गौरव बढ़ाने के लिये अपने शिष्यों और भक्तों को कहा होगा कि इस व्यक्ति की पूजा भगवान् के रूप में करना। यदि वे उन्हें स्वयम् भी भगवान् समझते तो शिष्य नहीं बनाते। तब वे उनकी पूजा ही करते, कोई मन्त्र नहीं देते। भगवान् राम और कृष्ण ने अपने अपने गुरुओं से सामान्य शास्त्रों का अभ्यास शैशव में किया था। मोक्ष विद्या किसी से नहीं सीखी थी। उन्होंने तो मोक्ष विद्या का उपदेश ही दिया था।

घर पर घनश्याम, मार्ग में नीलकण्ठ, गुरु से सहजानन्द और भक्तों से श्री जी और हरि कहे गये प्रस्तुत व्यक्ति ने पूर्व जन्म में ही सामान्य और विशेष शास्त्रों की तुच्छता समझ ली थी, साधना के अभाव में शास्त्र तुच्छ होते ही हैं, 'ज्ञानम् भारः क्रियां बिना' मोक्षपथ के योग्य अपने चित्त को परिष्कार देने की कोई क्रिया उनसे हो नहीं पायी। इससे इनका पूर्व जन्म मोक्ष सम्पादन में सफल नहीं हुआ। योगभ्रष्ट होकर इन्होंने शरीर छोड़ा। ये वैसे योगभ्रष्ट नहीं हुए जिनका संकेत भगवद्गीता में **'प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभि जायते'** इस वचन में है। ये तो शंकराचार्य के अभिशप्त दशनामियों में रह कर मोक्ष पाने के लिए सालम्ब निरालम्ब ध्यान के चक्कर में रहे हैं। आस्था का सम्बल ठीक न मिल पाने से इनकी योग साधना नहीं हुई। शास्त्रों में निष्णात व्यक्ति ही सिद्ध योगी हो पाता है। एक योगी को शास्त्र समुद्र से लेकर जिन दस रत्नों से अपने चित्त को सदा सजाये रहना पड़ता है उनका पता इस नये स्वयम्भू गुरु भगवान् के वचनों में नहीं है। किशोरवय में एक ही वर्ष में योग सीख लेने की इनकी बात शतानन्द को सपने में मालूम हुई थी। योग मार्ग में इनका कोई शिष्य नहीं हुआ।

वेदान्त की कोई पुस्तक इन्होंने किसी को नहीं पढ़ाई थी। वेदान्त पर क्रमिक कोई प्रवचन भी इनका नहीं हुआ है। प्रश्न पूछने वालों को या प्रश्नों को महान् या गम्भीर कह देने मात्र से न तो कोई महानता आती है न शास्त्र की पूर्णता ही हो जाती है। जो लोग इन्हें भगवान् मानते हैं उन्हें हम रोकते नहीं हैं पर उनसे इतना अनुरोध अवश्य करते हैं कि उनके अमृत वचनों का पारायण करते समय उस किसी ठोस वचन को ध्यान में रखा करें जो नये और विशेष कल्याणकारी हों। यह भी सुनिश्चित करें कि ऐसा वचन प्राचीन आचार्यों ने नहीं कहा था।

यदि इन्होंने नयी ऐसी कुछ बात कही है जो वेदादि शास्त्रों में नहीं है और आत्म कल्याण के लिये उसकी कोई उपयोगिता भी नहीं है तो या आत्मकल्याण के विरुद्ध भी है तो उसका परिग्रह न करके तत्काल त्याग करने में ही अपना हित है। पहले के मुमुक्षुओं को जिन उपायों से मोक्ष मिला है वे ही मान्य हैं। अवैदिक वचनों से कोई भगवान् नहीं सिद्ध होता न उन वचनों से नया मोक्ष मार्ग खुलता है। कलि में ईश्वर और ईश्वर के दूत फतिंगों की तरह उतरते ही रहते हैं। हम किस किस को मान्यता देकर अनादि शाश्वत कल्याणमय उज्ज्वल वैदिक मार्ग को अनदेखा करें। ऐसा तो वे ही करते हैं जो संस्कृत भाषा समझ नहीं पाते और जाति स्वभाव से ही भारतीय मर्यादाओं पर ईर्ष्या रखते हैं। वे ही वेदादि शास्त्रों को आधार कहते हुए उनसे जोड़ कर अपनी दुर्बुद्धि का प्रचार करते हैं। कभी-कभी दुर्बुद्धियों के परम गुरु भी मिल जाते हैं तब वे स्वयं को परम कृतार्थ मानने लगते हैं। ईश्वर पदार्थ और ब्रह्म पदार्थ में भेद एक ऐसा ही अर्थ है। इस पुरानी सड़ियल बूटी से ही परमपद मिलने की घोषणा करके सहज आनन्द भगवान् हो गये। अज्ञानी स्वार्थी जनों का भगवान् बन जाना कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसे भगवान् पूजा लेना तो जानते हैं पर वर देना इनके वश का नहीं होता। शास्त्र दृष्टि से ही भगवान् का वास्तव अनुभव होता है। जिन कुछ अज्ञानी भावुक भक्तों की कथायें हैं वे भी पूर्वजन्म के ज्ञानी साधक रहे हैं। अज्ञानियों को सहजानन्द और गान्धी जैसे ही भगवान् मिलते हैं। गुजरात की विशेषता यही है कि सूर तुलसी मीरा कबीर के सारे प्रेरक पदों को अनदेखा करके नये गुरु भगवान् के नीरस वचनों को अमृत कहते हुए नित्य पान करते हैं। गुरु ने पढ़ा दिया है कि शिक्षा पत्री प्रतिदिन

पढ़ना, वचनामृत का पाठ कभी न छोड़ना इससे तर जाओगे, मेरे स्वरूप पर अखण्ड मानस वृत्ति बनाये रहना, इससे जीव ईश्वर माया और ब्रह्म देखने लगोगे, पर ब्रह्म तो मैं हूं ही मुझे देख ही रहे हो, बाकी और चार तत्त्व दीखने लगेंगे। माया से कल्पित इनके जीव ईश्वर देखने और माया देखने से क्या फायदा है? जिसे अक्षर ब्रह्म दीखता होगा वह तो गगनकुसुम, शशशृंग, बन्ध्याकुमार के भी सुन्दर दर्शन पाता होगा? इन असार दर्शनों के सिवा इस स्वयम्भू गुरु के ध्यान का और क्या लाभ होगा?

यदि नीलकण्ठ वर्णी ब्रह्म था तो साधु रामानन्द से कृष्ण मन्त्र लेकर सहजानन्द नाम क्यों धराया? जिसका नाम रामानन्द था वह कृष्ण भक्त कैसे था? वह तो राम भक्त होता? फिर यह चालू चेला कुछ दिन कृष्ण मन्त्र जप कर स्वयम् परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम नारायण कैसे हो गया? क्या 'ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति' यह नियम लागू हो गया। जो अपने गढ़े पांच तत्वों में स्वाभाविक भेद घोषित कर चुका था, उन्हें नित्य कहा था उसी ने यह पाठ कैसे पढ़ा दिया कि जीव अक्षर ब्रह्म हो जाए और परब्रह्म न हो, तब अद्वैत कहां रहा, विशिष्टाद्वैत भी कैसे हुआ? जो स्वयं दिङ्मूढ़ होगा वह दूसरों को दिशा कैसे दिखलायेगा? और लोग चाहे जैसा समझें पर मुझे तो बहुत ढूंढ़ने पर भी इस नये गुरु भगवान् में न तो तत्त्वदर्शन की क्षमता मिलती है, न आर्जव मिलता है न अपने वचन के निर्वाह में ही तत्परता मिलती है न जीवन की कोई एकरूपता मिलती है। अवश्य ही भगवान् कृष्ण की नकल पर स्वयं को पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण कहने कहलाने की ललक मिलती है किन्तु यदि कोई संसारी चेतन ऐसा सोचता बोलता है तो वह उसके लिये घातक ही है। रांगा चान्दी नहीं होता, पीतल सोना नहीं होता। संसारी जीव आर्जव होने पर उपायों से माया के बन्धनों से छूट सकता है किन्तु स्वयं को भूल कर दूसरों को भुलावे में रखकर उनसे तिनके बटोरने में जो लगा रहे उसका क्या होगा। यह व्यक्ति धोखे में भगवान् बनकर बर्बाद हो गया ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि दूसरों को चाहे जो भी कुछ उपदेश दे गया हो पर स्वयं को नर नारायण का अवतार कहकर अपने लिये अनर्थ ही किये हैं। स्वामिनारायण मन्दिर में बैठ कर भजन करने वालो को भावानुसार फल मिलता ही होगा। सस्ते में बहुमूल्य वस्तु कभी नहीं

मिलती यह नहीं भूलना चाहिए। जिसे सर्वत्र भगवान् के दर्शन होते हों वह किसी को भी भगवान् माने पूजे आरती उतारे वह उचित ही है किन्तु औरों को अपमानित करने के लिये ही यदि कोई किसी मूर्ति की आरती उतारता है तो वह देखने में भले आरती हो पर होता है वह दूसरों का अपमान। सहजानन्द के चेलों को स्वयं सोचना चाहिए कि हम महान् गुणों की अवहेलना करते हुए किसी दोष की आरती क्यों उतारते हैं। जीव और ईश्वर माया से बनते हैं, माया से ऊपर और दो तत्त्व हैं अक्षर और ब्रह्म। ऐसी अभद्र मान्यता की ही तो हम आरती उतारते हैं। यदि जीव माया से बनता है तो बिना माया का वह क्या है? ऐसे ही ईश्वर भी यदि माया से बनता है तो बिना माया के वह क्या है? यदि वह ब्रह्म है तब तो एकात्मवाद आ गया तब शंकराचार्य के ही अनुयायी क्यों नहीं बने रहे? माया से बना ईश्वर यदि निकृष्ट होता है तब सृष्टि रक्षा संहार से ऊपर कौन सा अच्छा लक्षण ब्रह्म का है? यदि कहें कि वह शब्दों की पकड़ से परे हैं तब वह तो अलीक शशश्रृंग आदि भी हो सकता है शून्य भी हो सकता है। माया से ऊपर दो ब्रह्म नपुंसकों की क्या उपयोगिता है। यही कि वही स्वामिनारायण बनते हैं और गुणातीतानन्द बनते हैं, सो ठीक है किन्तु आज से पहले वे क्या करते थे? ईश्वर तो दिन रात सृष्टि रक्षा और परिवर्तन करता रहता है किन्तु इन दो ब्रह्म नपुंसकों का क्या अस्तित्व है? अवतार लेकर इन दोनों ने जो भी कुछ किया वह विश्व हित में नहीं है और इस अवतार से पहले के सारे अवतार यदि माया से परे ब्रह्म के हैं तो श्रीमद्भागवत के अनुसार उसने योग माया को मथुरा भेजकर चमत्कार दिखलाने को क्यों प्रेरित किया। जो माया से काम लेता है वह माया से परे कैसे है? यदि कहें कि उस पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता, तो शून्य पर भी तो माया का प्रभाव नहीं पड़ता, यदि कहें कि उसमें महान् गुण हैं तो वे गुण कब कहां काम आते हैं? यदि कहें कि अवतारों में गुण काम आते हैं तो अवतार में सहजानन्द में जीव और ईश्वर के माया कल्पित होने की भ्रान्ति क्यों हुई, क्या अज्ञान ही गुण होता है?

ब्रह्मा, विष्णु महेश बनने वाले ईश्वर के अवतार क्यों नहीं होते? दत्तात्रेय तीनों के अवतार कैसे माने गये? ''शंकरः शंकरः साक्षाद् व्यासो नाराायणः स्वयम्' को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्''

इस तरह विष्णु और शिव के अवतार क्यों माने गये हैं। कृष्णोपासक रामानन्द के चेले असहज वृत्ति सहजानन्द को यह समझ में नहीं आया कि यह पंचतत्त्ववाद कितने वैदिक ऐतिहासिक पौराणिक तान्त्रिक वाङ्मयों की अनदेखी करके खड़ा हुआ है, परमार्थ पथ के पथिकों को कितना दूर तक गुमराह करने में यह उपयोगी है। उक्त पांच तत्वों में एक का भी समर्थन किसी शास्त्र वचन से सम्भव नहीं है। हजारों वचनों का विरोध अवश्य मिलेगा। गोपालानन्द ने उपनिषद् भाष्य गीताभाष्य और ब्रह्मसूत्रभाष्य करके यदि उक्त पांच तत्त्व प्राप्त किये हों तो कोई मनीषी उनके ही वचनों का संकलन करके एक ग्रन्थ लिखे और उनका निष्कर्ष प्रकाशित करे। यह कार्य अभी तक हो चुका होता, सत्य का सहारा न मिलने से नहीं हो पाया है। वचनामृत के सन्दर्भ तो केवल यह सूचित करते हैं कि सहजानन्द ऐसा मानते थे। उनकी मान्यता का कोई आधार यदि नहीं मिलता तो वह मान्यता प्रभावों से परे होगी। कोई कह सकता है कि भगवान् जो बोलते हैं वह प्रमाण ही होता है किन्तु ऐसा तो नहीं है, भगवान् अप्रमाण की ओर ढकेल कर घात कराने वाले वचन भी बोलते हैं। बुद्ध अवतार मोहिनी अवतार भस्मासुर से शिव की रक्षा के अवतार में और कृष्णावतार में भी बहुत बार असत्य भाषण नाना उद्देश्यों से हुए हैं। फिर सहजानन्द को तो गुजरातियों ने गुरुभक्ति से भगवान् माना है। उनके भगवान् होने में कोई प्रमाण नहीं है। अपने वचनों से वे स्वयम् भगवान् नहीं ठहर सकते।

कुछ लोग कहेंगे कि भारत में हजारों स्वामिनारायण मन्दिर बने हैं। सेवा पूजा बराबर होती है। भारत से बाहर भी सैकड़ों मन्दिर पचास से अधिक देशों में हैं। सेवा पूजा हो रही हैं सारी दुनिया उन्हें भगवान् मानकर प्रणाम करती है। तब आप एक के इनकार करने से क्या होगा। सो ठीक है, उन्हें समझना चाहिये कि प्रचार का माध्यम मजबूत होने से प्रचार हो जाता है। ईसाई मुसलमान अपने अपने मजहब का प्रचार कर रहे हैं। उन्हें अपने यहां की कमजोर नस के मजबूत होने की उम्मीद आज तक नहीं हुई। इससे वे अपना प्रचार विवेकशून्य स्वार्थी कायर लोगों में ही करते आये हैं। यही हाल इस संगठन का भी है। वाणिज्य भी प्रचार का एक अच्छा माध्यम होता है। अहमदाबाद और दिल्ली में अक्षरधाम मन्दिर हैं। दोनों जगह प्रदर्शनी और होटल आदि दूकानों से प्रतिदिन लाखों की आय हो रही है। हैं तो वे दोनों

दूकानें किन्तु देखने में मन्दिर लगती हैं। जब भारत में ऐसा है तो विदेशों में क्या कहना है। यह संगठन मूलतः बनियों का है, बनिये लक्ष्मी की ही पूजा करते हैं, भले वे वैष्णव शैव शाक्त जैन बौद्ध या नास्तिक हों। अपने आराध्य की मूर्ति को वे केवल धन का माध्यम मानते हैं उसके नाम रूप आकार में वे हेर फेर नहीं करेंगे। किन्तु यदि धन लाभ होना होगा तो वे कोई भी परिवर्तन कर लेंगे। धन लाभ के लिये ही इन्होंने उठल्लू को पहले गुरु बनाया और बाद में आय बढ़ाने के लिये भगवान बना लिया। गुरु से बहुत बार कहलवाया और लिखवाया भी कि मैं भगवान हूं। वाणिज्य का माध्यम न बनने से उनका एक भी मन्दिर नहीं बनता। पता चल सकता है कि इनके मन्दिरों के आय में बनिये चेलों की बड़ी भागीदारी शुरू से जारी है। मन्दिरों की संख्या से, सदस्यों की संख्या से, उनके वैभव से और उनके प्रतीकों से भी तत्त्व हित पुरुषार्थों का पता नहीं चलता। यानी इनसे हम नहीं समझ पाते कि पुरुषार्थों के आधारभूत अर्थ क्या हैं और पुरुषार्थ का यानी जो हमे मिलना चाहिये उसका स्वरूप क्या है एवम् उसकी प्राप्ति का ठोस उपाय क्या है। यह ज्ञान तो त्यागमय जीवन वाले शास्त्रज्ञ महापुरुषों की कृपा से ही सम्भव है। सहजानन्द को तत्त्व हित पुरुषार्थों का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। यदि वे भगवान् थे तो भी इस जानकारी से वे दूर ही रहे हैं। इसी से इनकी चर्चा जगह जगह पर होने पर भी उनका शास्त्रीय शैली से निरुपण उन्होंने नहीं किया। अब उनके भक्त शिष्य यही कहते हैं कि हमारे भगवान् ने अक्षर ब्रह्म माना है इससे हम भी मानते हैं। उनकी मान्यता के प्रमाण उनके वचन ही हैं। भगवान् का वचन प्रमाण ही होता है। दूसरों को उसका प्रमाण वेदादि शास्त्रों में मिल जायेगा। वे यह भी कहेंगे कि वेदादि शास्त्रों में लक्ष्मी नारायण का एवं विष्णु तत्त्व का वर्णन है पर हमारे भगवान् ने उनको केवल प्रणाम करने को कहा है, उपासना ध्यान जप आदि के लिये स्वयं को ही कहा है। इससे हम तो अपने भगवान् स्वामिनारायण का जप ध्यान करते हैं। वेदोक्त दूसरों का नहीं करते। आगे वे यह भी कहेंगे कि ऐसा ही दूसरे सम्प्रदाय वाले भी कर रहे हैं इससे हम भी ऐसा ही करते हैं।

उनका ऐसा सोच केवल अन्धानुकरण है। जब सारे विश्व के भगवान् एक ही हैं, वह अनादि भी है तो 'हमारे भगवान्' का क्या

माने हुआ। यदि सहजानन्द को ही भगवान् मानकर बोलते हों तो यह उचित नहीं होगा। वे यदि भगवान् हैं तो उनका वचन शास्त्रीय ही होगा। शास्त्र से हटकर भगवान् न सोचते हैं न बोलते हैं। सहजानन्द ने बहुत बार स्वयं को भगवान् कहा है। फिर भी उनके वचनों को शास्त्रों से मिलान करके ही हम लेंगे। शास्त्र उनकी भावनाओं के विवरण हैं। भगवान् तो कभी कभी मनमानी भी कर और बोल जाते हैं। उस समय हमारा सहारा शास्त्र ही होते हैं। सहजानन्द ने स्वयम् भी कई बार कहा है कि मेरी नकल न करना। इससे हम उनके पंचतत्त्ववाद को भी शास्त्रों में ढूंढ़ कर लेंगे। तत्त्वों का निरुपण भी हम शास्त्रीय आधार पर करेंगे। बुद्ध या ऋषभ देव जैसे भगवान् का त्याग कर लेंगे। शास्त्रों का त्याग न करके अपना त्याग करने वालों से भगवान् अधिक सन्तुष्ट होंगे। शास्त्र उनकी अनादि शाश्वत प्रियतम मूर्ति है, अवतारों की तरह उनका समय अति सीमित नहीं होता। व्यापक अनादि सामान्य या विशेष शास्त्रों की अवहेलना करते हुए किसी एक मूर्ति की आड़ लेकर मनमानी करने वाले लोग स्वयं को स्वयम् भले भक्त कहें पर शास्त्रों की अनदेखी करने वालों को भगवान् कभी भी आत्मीय नहीं मानते। उनका कोई भी हित सम्भव नहीं।

कोई अपना भगवान् अलग मानता होगा किन्तु भगवान् एक से अधिक नहीं होते। विश्व के रचयिता को ही भगवान् कहते हैं। किसी के कुछ मानने न मानने का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रक्षात्मक सारे नियम चाहे वे किसी भी भाषा में किसी के भी मुंह से निकले हों या शाश्वत वैदिक हों सब के सब उस एक परमात्मा के ही होते हैं। इससे किसी एक किताब को अपना मानकर शेष को ठुकराने वाला व्यक्ति कभी भी भगवान् का प्रिय नहीं हो सकता। सहजानन्द भगवान हों या न हों उनके जितने वचन वेदादि रक्षात्मक शास्त्रों से मिलते हैं वे सब ईश्वरीय हैं। ईश्वरीय कहने से उनके भक्त असन्तुष्ट होंगे, उनके गुरु ने ईश्वर नामक एक मायामय तत्त्व ढूंढ़कर चेलों को बतलाया है किन्तु ईश्वर शब्द परमात्मा का ही पर्याय है। सहजानन्द के कुछ वचन सन्देह और विरोध भी उत्पन्न करते हैं। उनके भक्तों को चाहिये कि ऐसे वचनों को विचारणीय कोटि में रखकर उनकी समीक्षा किया करें। कुछ लोग कहेंगे कि हमें तो उनके सारे वचन

अच्छे ही लगते हैं तो वे धन्य हैं। उन्हें इसी तरह वेदादि सारे शास्त्रों में भी आस्था होनी चाहिये। गुरु ने वहीं से लेकर कहा है, भगवान् का वेदादि से हट कर कोई शास्त्र नहीं होता।

सहजानन्द के अनुयायी उनके कहे और बोले वचनों को और उनके भक्तों के वचनों को प्रथम प्रमाण मानते हैं। उनके बाद वेदादि शास्त्रों को मानते हैं। इससे इनका सम्प्रदाय खड़ा होता है। किन्तु ऐसा सोच आदरणीय नहीं है। वेदादि शास्त्रों से बढ़कर जब भगवान् ही नहीं हैं तो और क्या होगा? अलग सम्प्रदाय खड़ा करने के लिये कुछ नया लिख डालना कोई नैतिकता नहीं है। अपने विचारों को वेदादि शास्त्र सम्मत घोषित करना मात्र भी नैतिकता नहीं है। पूर्व मनीषियों के विचारों से संगति बनाना आवश्यक होता है, वही नैतिकता भी कहा जाता है। वह संगति न बना पाने से ही शांकर मत निन्दित रह गया। अनजाने ही वह मत सहजानन्द ने अपनाया और कुछ चमत्कारों से भावुक गुजरातियों में भगवान् बनकर पूजे जा रहे हैं। शांकर मत में कोई तत्त्व विचार के सामने ठहर नहीं पाता। बौद्धों से यह मान्यता उन्होंने आदर से ली है। इसी से सहजानन्द के भी पांच तत्त्व केवल बादलों के हाथी हैं। चेले कहेंगे कि शांकर मत से हमारे यहां बहुत भेद हैं। वह भेद तो अलग सम्प्रदाय खड़ा करने की वासना से वैष्णव आचार्यों से बिना कृतज्ञता के ही अपनाये गये हैं। पांच तत्वों में एक का भी लक्षण और ठोस प्रमाण उनके चेले नहीं बतला पायेंगे। इनके संगठन में ऐसा कोई ज्ञान या कर्म नहीं है जो सम्प्रदाय संज्ञा सम्भाल सके।

शिक्षा पत्री और वचनामृत ऐसे कोई निबन्ध नहीं हैं जो वैष्णव आचार्यों से हटकर कोई नया सम्प्रदाय खड़ा कर सकें। संगठन वाले बाद में वेदान्त भाष्य गीता भाष्य आदि जो भी लिख पाये हैं उनमें भी ऐसी कोई जान नहीं है जो कुछ नयापन ला सकें। नयापन की कोई आवश्यकता भी नहीं है। विष्णुभक्तों के चार छह या सात प्राचीन संगठनों में जितना चिन्तन है वह मुक्ति मार्ग में भरपूर सम्बल है। उनका ही प्रचार गुजरात में होता, साथ साथ समाज सुधार के भी कार्य होते और स्वयं को विष्णुभक्तों का चरण रज कहना छोड़ कर सर्वावतारी कहने की धृष्टता न अपनायी गयी होती, अभी जितने भी स्वामिनारायण मन्दिर बने हैं उनके स्थान पर वेद वेदांग हरि भक्ति

विद्यालय चलाये गये होते तो राष्ट्र की बड़ी सेवा हो सकती थी। आवश्यकता थी भारतीय आदर्शों को विश्व में फैलाने की, अवैदिक चिन्तनों को दबाकर निश्छल हरिभक्ति की धारा प्रवाहित करते हुए सारे विश्व को केवल एक राष्ट्र का रूप देने की दिशा में काम करने की, ईसाई मुस्लिम चिन्तनों में मेरुदण्ड की भांति एक अपूर्ण वैदिक दृष्टि प्रदर्शित करते हुए उस में पूर्णता और परिपूर्णता लाने की। किन्तु ऐसा तो कुछ हुआ नहीं। वेद विरोधी चिन्तनों के स्रोतों से फैल रहे भीषण आतंकवाद पर अंकुश लगाना सोचा भी नहीं गया। राम जन्म भूमि मन्दिर पर हो रही आततायी कार्यवाहियों की अनदेखी करके, अयोध्या के निकट से गुजरात जाकर प्रचार किया गया कि राम बहुत पुराने हो गये वे अब मोक्ष नहीं दे पायेंगे, सर्वावतारी मैं मोक्ष दूंगा। यह इस्लाम का दम्भपूर्ण समर्थन तो नहीं है? सहजानन्द के चेले मान रहे हैं कि हमारे भगवान् ने जहां भी कृष्ण भक्ति या उपासना की बात कही है वहां उनका अपने से तात्पर्य है। अपनी उपासना की ही बात दूसरे शब्दों से कही है, कई जगह तो उन्होंने अपना ही नाम लिया था जिसे शतानन्द नित्यानन्द ने बदल दिया है, ऐसा भी प्रमुख जी महाराज मान रहे हैं, गुणतीतानन्द को ही वे सत्य का साक्षी बना रहे हैं। यह मथुरा की कृष्ण जन्मभूमि को उखाड़ फैंकने की साजिश तो नहीं है?

राम और कृष्ण ने ही तो वैदिक दर्शन का व्यापक विस्तार अपने वचनों ओर कर्मयोगों से किया है, उन दोनों को फीका कहना और स्वयं को ज्वलन्त घोषित करना तो तत्काल दण्ड के योग्य अपराध है, इसे गुजराती जारी रखे हैं यह कौन सा एकान्तिक धर्म है। सहजानन्द के चेले तीर्थ यात्रा के ब्याज से राम कृष्ण मन्दिरों में जब सिर झुकाते हैं तो क्या पढ़ते हैं? यही कि तुम तो अब पुराने हो गये, मोक्ष नहीं दे पाओगे किन्तु कभी दे चुके होगे इससे हम तुम्हें भी प्रणाम करते हैं, फिर कहते होंगे कि अब तुम साकेत गोलोक पधारो हम यहां अपने सर्वावतारी गुरु भगवान् को पधरायेंगे। तटस्थ सज्जन सोचें कि यह कौन सी भक्ति है। यही इनका एकान्तिक धर्म है। गुजरात (सौराष्ट्र) में पिछले पांच हजार वर्षों से ऐसी दुर्बुद्धि चल रही है, इसी से वहां कोई दम्भ आसानी से भगवान् बन गया। इसी से पद्म पुराण में भक्ति कहती है–'**उत्पन्ना द्रविडे साऽहं वृद्धिं कर्णाटके गता। क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता**'। गोधरा अग्निकाण्ड में

आततायियों ने जो गुर्जर रामभक्तों को जलाया वह उनके किसी प्राचीन पाप का फल तो रहा ही होगा। राम को अक्षम भगवान् मानते हुए अयोध्या जाना भी एक पाप रहा होगा। अब सर्वावतारी बनने वाले को सर्पावतारी क्यों न कहा जाये?

क्या है सर्वावतारी

सहजानन्द के चेले ही सर्वावतारी शब्द का प्रयोग करते हैं। औरों को इसकी उपयोगिता का ज्ञान नहीं हुआ। गुरु ने श्रीमद्भागवत के दशम और पंचम स्कन्ध पढ़ने को कहा था इससे उन्हें और स्कन्धों की उपयोगिता समझ में नहीं आयी। द्वितीय स्कन्ध में 'जगृहे पौरुषं रूपम्' इत्यादि से बतलाया है कि भगवान् सृष्टि के लिये प्राकृतिक मूल तत्वों से युक्त एक नराकार विराट् रूप धारण करते हैं उसी से सारे अवतार होते हैं और सारी सृष्टि भी होती है। किन्तु भगवान् का वह रूप जो मुक्तों को प्राप्त होता है जो ब्रह्मादि के ध्यान में भी नहीं आता वह नराकार नहीं होता, वह तो अचिन्त्य तेजोमय होता है, इसी में भक्त जन अपने ध्येय आकार का तादात्म्य मानते हैं वह शाश्वत सनातन एकाकार एवम् अनन्त है। उस तक मायाबद्ध चेतनों की प्रज्ञा पहुंच नहीं पाती। सहजानन्द ने अपने सत्संगियों को कहा है कि मैं वही अचिन्त्य परात्पर पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम हूं, जिसे मुक्त पुरुष प्राप्त करते हैं, साथ ही स्वयं को सर्वावतारी कहकर निम्न स्तरीय रूप विराट् भी कह दिया, इससे उनका पोल खुल गया, न वे शास्त्रज्ञ निकले न माया से परे। तब वे भगवान् कैसे थे? इससे तो 'नीलवर्ण श्रृगालवत्' की पंचतंत्र की कथा हो गयी!

वचनामृत का गन्ध

वचनामृत संग्रह गुजरातियों के लिये वह अमृत है जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव को भी दुर्लभ है (देखिये जेतलपुर का पांचवां प्रवचन चैत्रशुक्ल सप्तमी शुक्रवार 14 अप्रैल 1826) किन्तु इसमें तो ज्ञानानुदय, अन्यथा ज्ञान और विपरीत ज्ञान की चारों ओर भरमार है, इसमें दम्भ और पाखण्ड की भी कमी नहीं है।जिन विषयों की चर्चा से अपना अज्ञान खुलने का भय हो उनकी चर्चा छोड़ते रहना दम्भ कहलाता है, अपना झूठ छल कपट छिपाने के लिये जो अच्छे लगने वाले आचरण होते हैं वे पाखण्ड कहे जाते हैं। ज्ञानवान् का दम्भ पाखण्ड देर से

जाना जाता है पर अज्ञान के साथ वह जल्दी ही खुलता है। अज्ञानियों में अज्ञान छिप जाता है। दम्भ पाखण्ड खुलने पर अच्छी चर्चा से भी दुर्गन्ध फैलने लगती है। गुजराती अपने गुरु की कीर्ति का ढोल चाहे जितना पीटें पर बहुत से उनके सदस्य ही हटने लगे हैं। क्योंकि पुराने सदस्य अब दम्भ बढ़ाने में ज्यादा रुचि लेने लगे हैं। गुरु के कटे वचनों की भी कटौती करने लगे हैं। यह चेष्टा उनके निष्पक्ष आत्मीयों को खलने लगी है। किसी भी संगठन की बुराई देर से भी उसका विनाश कर ही देती है। संगठन के सदस्यों को अच्छी सीख देने वाले दूसरे बहुत से छोटे संगठन हैं, उनसे वे सीख ले सकते हैं। सत्य की तलाश हृदय से होनी चाहिये। दम्भ पाखण्ड से वह दूर हटता है। अक्षर ब्रह्म प्रमाणित किये बिना उसका निराधार अवतार घोषित करना। मन्दिर का नाम अक्षरधाम रखना एक साथ दम्भ और पाखण्ड भी है। अपने प्रवचन में ब्रह्मा विष्णु शिव की उपस्थिति दरसाने का सम्मोहन प्रयोग घातक दम्भ और पाखण्ड है। इससे तो पूरा संगठन ही तमोमय सिद्ध होता है।

गुर्जर में दुर्जर होता है, वेदों का सारांश,
यहीं मिटाया था माधव ने, अपना सारा वंश।
नारायण की लक्ष्मी छीनी, प्रज्ञा आयु समेत,
लक्ष्मी वाहन बने जनों का, है यह बड़ा निकेत।
भक्ति यहां कहती बूढ़ी मैं, प्रभु को कैसे पाऊं,
जीर्ण कलेवर से चलकर मैं, और कहां चल जाऊं।

***

स्वामिनारायण के भीतरघात

कलि की प्रजा को सनातन वैदिक सत्पथ भाता ही नहीं, इससे वह स्वयं नाना दम्भ पाखण्ड मतों की सृष्टि करती रहती है। सन्मार्ग पर धूल ढ़क कर कचड़ों पर फूलों की सजावट वह अपने आप करती रहती है। इससे इस काल में पाखण्डों का सफाया तो सम्भव नहीं है पर सन्मार्ग के उपासकों की आंशिक भ्रान्तियों का वारण प्रभु सेवा के रूप में आवश्यक मान कर कुछ लिखा जा रहा है।

स्वामिनारायण का संगठन एक वैष्णव सम्प्रदाय सा लगता है किन्तु ऊर्ध्वपुण्ड के साथ भी यह एक विधर्मी संगठन है। वेदशास्त्रों

में वर्णित देवताओं पर से आस्था हटा कर शून्य में आस्था जमाना इसका कपट पूर्ण लक्ष्य है। दम्भ की शुरुआत स्वामिनारायण ने स्वयं छः मन्दिर बनवाकर उसके गर्भगृह में प्रधान देवता के रूप में अपनी मूर्ति रखवा कर की है। इससे बड़ा बीभत्स क्या होगा? उस मन्दिर में बाहर गणेश और हनुमान जी होते हैं। भीतर राधाकृष्ण, सीताराम, नरनारायण, स्वामी नारायण के माता-पिता, स्वामी नारायण की ही दूसरी तीसरी मूर्तियाँ होती हैं। स्वामी नारायण के कई चेलों की भी मूर्तियाँ होती हैं। इस तरह वैदिक देवी-देवताओं को गौण रूप देकर विवेक शून्य मानवों की मूर्तियों को प्रधानता देकर प्रणाम करना कराना कौन सी बुद्धिमानी और धर्म है। स्वामिनारायण को भगवान् मानना एक साधारण बात लगती है किन्तु है यह असाधारण। क्योंकि संगठन वाले राम कृष्ण आदि अवतारों की सेवा पूजा प्रणाम आदि से बचने के लिये ही स्वामिनारायण को अवतार मानते हैं। स्वामिनारायण ने स्वयं ही अपने उपदेशों में राम कृष्ण आदि को तुच्छ और स्वयं को मुख्य भगवान् के रूप में संकेतित किया है। उपदेश के वचनों का दूसरा जो भी अर्थ हो सकता था उसका वारण स्वामी नारायण ने अपनी मूर्ति प्रतिष्ठा और पूजा जारी करके स्वयं कर दिया है। अब यह समझना है कि स्वामिनारायण भगवान् कैसे हैं, शिक्षापत्री नाम की एक छोटी सी पुस्तिका उनकी लिखी मिलती है, उसमें 212 अनुष्टुप् छन्द हैं कुछ लोग मानते हैं कि उन्होंने केवल 25 श्लोक ही लिखे थे, बाद में बढ़ाया गया है। किन्तु श्लोक सारे एक जैसे ही हैं भेद समझ में नहीं आता है। इस पुस्तिका में उन्होंने कुछ आदेश अपने भक्तों को दिये हैं जो ज्यादातर सामान्य शास्त्र दृष्टियों पर आधारित हैं। यह पुस्तिका नहीं भी लिखी गयी होती तो भक्तजन सामान्य शास्त्र होने से मानते ही। लिखने से लाभ यह हो गया है उनके वचन होने से भक्त ज्यादा ही मानने लगे है। इसका गौरव बढ़ाने के लिये इसकी कुछ व्याख्यायें लिखी गयी हैं जिन्हें भक्ति से भाष्य कहा जाता है। अति सरल ग्रन्थ पर व्याख्या और भाष्य क्या होंगे, पर भक्तों की श्रद्धा को कौन रोके?

वस्तुतः इस शिक्षापत्री में उनकी कोई विद्वता नहीं झलकती। वचनामृत नामक संग्रह में आत्म कल्याण का कोई ठोस उपाय वर्णित नहीं है, यदि है भी तो वह इस रूप में है कि प्रभावी नहीं हो सका। भक्तों के चित्त पर वह चढ़ नहीं पाया। भक्तों ने वचनों का उलटा

अर्थ बहुत लिया है जो स्वामिनारायण को अच्छा ही लगा है। स्वामी नारायण ने क्या चाहा था? यही कि लोग मुझे भगवान् मान कर पूजें और मेरे मरने पर भी मेरी मूर्ति को ही भगवान् मानते रहें। साथ ही यह भी चाहा था कि भगवान् के राम कृष्ण आदि विग्रहों पर लोग आस्था न रखें। उनके अनुयायी आज ऐसा ही कर रहे हैं। उन्होंने स्वयं ही अपने चेलों को नास्तिक बना रखा है। भगवान् को विष्णु न कहकर स्वामिनारायण कहना, विष्णु को साष्टांग प्रणाम न करना, उनका सहस्रनाम न पढ़ना, उनकी पूजा न करना, चरणोदक न लेना। भागवत प्रवचन के स्थान पर सत्संगिजीवन का पाठ कराना, अप्रामाणिक पञ्चतत्त्व मान कर उन तत्त्वों से विष्णु को अलग मानना या गौण मानना एक परिष्कृत नास्तिकता ही है। उनके ये कार्य ऐसे नहीं हैं कि कोई उन्हें भगवान् माने। दुर्वासा के मनगढ़न्त शाप से भी वे भगवान् नहीं ठहर सकते। यदि ये नरनारायण के अवतार होते तो अपना अभिमत मूल अष्टाक्षर मन्त्र ही देते, सन्यासी वेष में होते। ब्राह्मण को त्रिदण्ड के साथ सन्यास देते। इनके कल्पित गुरु रामानन्द उद्धव जी के अवतार नहीं हो सकते। उद्धव जी का भाव होता तो उनका नाम कृष्णानन्द होता और स्वामिनारायण को अपने इष्ट भगवान् कृष्ण को तिरस्कृत करने के लिये शिष्य नहीं बनाते। यह कथन भी सर्वथा उपहासास्पद है कि रामानन्द ने नीलकण्ठवर्णी नामक अपने प्रिय शिष्य को राम कृष्ण आदि की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ या उपकारक घोषित किया था। यह सब तो सौराष्ट्र की अति प्राचीन उस दुष्प्रज्ञा का प्रतीक है जो **"अंग वंग कलिंगेषु सौराष्ट्र मगधेषु च। तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति"** आदि धर्म ग्रन्थों में वर्णित है। यहाँ अच्छी प्रज्ञा न उत्पन्न होती है न ठहरती है। इसी से अपनी पूजा कराने की इच्छा पूरी करने के लिये पहले के नीलकण्ठ वर्णी ने भारत के अन्य भागों को छोड़कर इस क्षेत्र को ही चुना। गलत कार्य के लिये गलत क्षेत्र चुनना स्वाभाविक ही है। इन बातों से संगठन के लोग खफा जरूर होंगे पर उनका कल्याण तो तभी सम्भव है जब स्वामिनारायण की दी हुई मायाकल्पित पंचतत्त्वों वाली गुमराही से स्वयं को निकालकर किसी सदाचार्य से सन्मार्ग ग्रहण करके आगे बढ़ें और त्रिपाद् विभूति में भी ऊँच-नीच भाव मानते हुए अपने दम्भी स्वामिनारायण का स्थान सबसे ऊपर मानने का प्रायश्चित कर लें। वेदार्थ में मनमानी हेर फेर करना कोई छोटा अपराध नहीं है। इस

अपराध का प्रायश्चित स्वामिनारायण की जड़ प्रतिमा को हजार साष्टांग करने पर भी सम्भव नहीं है। स्वामिनारायण वालों को साष्टांग प्रणाम मालुम नहीं है न मालुम होने की सम्भावना है। प्रणाम का आठवाँ अंग समझ में आते ही इनका सम्प्रदाय छूट जायेगा। एक साष्टांग प्रणाम से ही मोक्ष हो जाता है, यदि एक से मोक्ष न हो तो हजारों से भी न होगा। यह रहस्य कितने लोग जानते हैं?

स्वामिनारायण के जीवन के दो रूप मिलते हैं, साधक और सिद्ध। इनके भक्त चमत्कार भरे कुछ सिद्ध रूपों के आधार पर इन्हें भगवान् मानते हैं किन्तु साधक रूपों को मानते ही नहीं। ऐसा क्यों? साधक रूप सन्ध्या पूजा तिलक प्राणायाम ध्यान, प्रणाम, चरणोदक लेना आदि एवम् मलमूत्र त्याग, मुख प्रच्छालन, स्नान, वस्त्रधारण, भोजन, विश्राम, सुखासन, निद्रा आदि सारे व्यापार उनके जो भी होते थे वह सब हमारे अनुकरण के लिये नही कहे जा सकते। शास्त्रीय और प्राकृतिक सारे आचरण पहले से ही प्रचलित रहे हैं। ये साधक सारे रूप उन्हें मानव ही सिद्ध करते हैं किन्तु जो सिद्धरूप उपलब्ध थे वे योग साधना से ही सम्भव थे, उतने से वे भगवान् नहीं माने जा सकते थे। यदि कहें कि अपने वचनों से ही वे भगवान् माने गये तो फिर उनके वचनों का सामञ्जस्य उनके आचरणों से किये बिना वे भगवान् कैसे माने गये। फिर उनमें तो प्रचुर लोकैषणा पायी गयी है, उन्होंने अपनी शिष्य सम्पदा को सम्हालने के लिये अपने भाइयों के दो युवा पुत्रों को गोद लिया था। गोद लेने के नियमों का पालन उनसे सम्भव नहीं था, पत्नीवाला व्यक्ति ही किसी शिशु को गोद ले सकता है, अपनी पत्नी से मातृ स्नेह प्राप्त किया बालक ही किसी का दत्तक पुत्र होता है। धर्मशास्त्रीय व्यवस्था ऐसी ही है। इस व्यवस्था के अन्दर व्यक्ति अपने गुणों का संक्रमण दत्तक में करने के कतिपय उपाय करता है। स्वामिनारायण ने ऐसा कुछ नहीं किया। वे तो यही चाहते थे कि शिष्य समूह से आ रहा सारा सौराष्ट्र धन अपने घर के लोगों को ही मिले। इसी से आपातकालिक अशास्त्रीय दत्तक पुत्र बनाये और शिक्षापत्री में आदेश दिया कि मेरे आश्रित भक्तों को मेरे ये दत्तक पुत्र ही दीक्षा देंगे एवम् उनकी पत्नियों को इनकी पत्नियाँ दीक्षा देंगी। किन्तु उनके दत्तक पुत्रों और पुत्र वधुओं में आचार्य के गुण कितना संक्रमित हुए इसका कोई साक्ष्य अभी उपलब्ध नहीं है। बल्कि उनमें

कोई गुण नहीं आया ऐसा कहने का आधार अब बन गया है। महात्मा गान्धी ने इनकी नकल करके इन्दिरा के प्रेमपति फिरोज को हिन्दू ठहराने के लिये उसे क्षण भर के लिये गोद लिया था।

अक्षर और पुरुषोत्तम

स्वामिनारायण ने उपनिषदों और गीता के श्लोकों से अक्षर नामक एक ऐसा अनोखा तत्त्व ढूंढ़ निकाला है जिसका पता वेदव्यास से लेकर आज तक के आचार्यों को नहीं चला है। उसे परब्रह्म पुरुषोत्तम के आधारभूत एक तत्त्व के रूप में उन्होंने वर्णित किया है। एवं स्वयं को उससे ऊपर परब्रह्म या पुरुषोत्तम के रूप में शिष्यों को संकेतित किया है। अपने सौराष्ट्री भक्त शिष्यों को गुमराह रखने का उनका यह भी एक भीतरघात है जो अनोखा आचार्य बनने की ललक से हुआ है। किसी सन्दर्भ में उस नये अक्षर तत्त्व की उन्होंने सामान्य रूप से प्रशंसा की थी। बाद वालों ने मान लिया कि उन्होंने अपने प्रिय सन्त शिष्य गुणातीतानन्द को ही अक्षर तत्त्व कहा है। बाद में उनके सारे शिष्य प्रशिष्य अक्षर कहे गये। वर्तमान प्रमुख स्वामी अक्षर हैं, उनके स्थान पर जो भी आयेंगे वे अक्षर ही कहे जायेंगे। सन्त गुणातीतानन्द की यह परम्परा स्वामिनारायण के पसन्द की उस परम्परा से ज्यादा ही विकसित हुई जिसे उन्होंने गोद लिये अपने भाईयों के पुत्रों के द्वारा चलाने का स्पष्ट आदेश दिया था। आदेश का ठीक से साकार न हो पाना उनके परब्रह्म पुरुषोत्तम होने में प्रश्नचिह्न बनता है।

इनके पञ्चतत्त्व

स्वयम् अनोखा आचार्य और सबसे बड़ा भगवान् बनने की स्वामिनारायण की ललक मोहान्ध सौराष्ट्री जनता ने अवश्य पूरी कर दी किन्तु उसे एक घनी गुमराही के सिवा और कुछ नहीं मिला। संस्कृत की थोड़ी सी सुगन्ध मिलाकर वचनामृत की भांग छान कर उसकी मस्ती में झूमते रहना एक अलग बात है किन्तु आत्मकल्याण की दिशा में अवधानपूर्वक आगे बढ़ते रहना कोई दूसरी ही बात है जो फर्जी या सही विद्या के मद वालों के लिये अति दुर्लभ है। आत्मकल्याण का स्पष्ट मार्ग उन दिव्यसूरियों को दिखा था जिन्होंने कोई सम्प्रदाय चलाने की कल्पना के बिना ही केवल आत्म तुष्टि के लिये चार

हजार दिव्य प्रबन्धों के रूप में तमिल में गाया था। चिरकाल बाद लुप्त हुए उन प्रबन्धों को महायोगी नाथमुनि स्वामी ने केवल योगबल से प्राप्त किया था। वे प्रबन्ध किसी भी सम्प्रदाय की पुष्टि नहीं करते बल्कि शुद्ध भगवद् गुणानुभव परीवाह के रूप में संसारी चेतन मात्र के परम मंगल के लिये आज भी उपलब्ध हैं। अवश्य ही उन प्रबन्धों का गान निष्ठावान् सत्सम्प्रदायाचार्य ही करते हैं। दूसरों को वह गान अच्छा न लग पाना भाषा के अज्ञान के कारण या सहज संसारीपना के कारण है। स्वामिनारायण के कहे जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म नामक जिन पाँच तत्त्वों को लेकर उनके अनुचर कृतार्थ हैं वे शांकरदर्शन के उच्छिष्ट के सिवा और कुछ नहीं है। जिस अक्षर तत्त्व को वे नया मान रहे हैं वह भी वहीं सुरक्षित है। शांकरदर्शन का कोई भी मनीषी इन अनोखे साधुओं को स्पष्ट दिखला सकता है। वे उनसे ही पूछ कर समझें तो उनका शीघ्र मोह भंग होगा। चोरी का यह पञ्चतत्त्ववाद स्वामिनारायण को वैष्णव परम्पराओं से बहुत दूर एवम् मायावादियों की तरह ही नि:श्रेयस से चिर उदासीन ठहरा रहा है।

आज भी उत्तरोत्तर बढ़ रही उन पर आस्था भी उन्हें भगवान् नहीं ठहरा सकती। एक आचार्य रजनीश हो गये हैं, उन्हें उनके भक्त भगवान् रजनीश कहते हैं। उन्हें भगवान् का पद मिला है कामसेवन पर सिद्धान्त रूप से प्रतिबन्ध हटाने से। रामकृष्ण परमहंस भी अब भगवान् माने जा रहे हैं। देश में भगवानों की लम्बी कतार है। जब टाना भगतों ने महात्मा गान्धी को भी भगवान् मान लिया तो भगवान् बनने से बच कौन सकता है। अज्ञान के अनुपात से ही भगवान् के विग्रहों की संख्या बढ़ती है।

स्वामिनारायण के भक्तों को ठीक से समझ लेना चाहिये कि उनके गुरु भगवान् ने उन्हें बहुत बड़े पद, सम्मान और प्रतिष्ठा से अलग करके एवम् परमार्थ पथ से भी दृढ़ रूप से अलग करके अज्ञानमय साधुता ओढ़कर घूमते रहने के लिये छोड़ दिया है। उनका बनाया सम्प्रदाय शास्त्रीय आधारों से बिल्कुल दूर है। उससे आत्मकल्याण तो दूर, अमंगल ही ज्यादा होगा। लोकैषणा वित्तैषणा और पुत्रैषणा इन तीनों में से एक का भी अभाव स्वामिनारायण में नहीं माना जा सकता। स्वयं छ: मन्दिर बनवा कर उनमें अपनी ही प्रतिष्ठा प्रधान देवता के रूप में कराना, मन्दिर की व्यवस्था अपने भतीजों के ही हाथ सौंपना, उन्हें अपना पुत्र ठहराने के लिये गोद लेने का अभिनय

करना, शिक्षापत्री में वैसा ही आदेश जारी करना, स्त्रियों को स्त्रियों के द्वारा ही दीक्षित करने का स्वार्थपूर्ण नियम बनाना, उत्तराधिकारियों के कोई शैक्षिक योग्यता घोषित न करना, सकल वेदादि शास्त्र सारार्थ, सर्वशास्त्र प्रवर्तक, सर्वरक्षक, सृष्टि संहार आदि जगत् के सारे कार्यों के निर्वाहक, अनन्त नाम रूपों से जाने जा रहे, सारे नाम रूपों के निर्वाहक भगवान् नारायण को छोड़ कर स्वयं की पाषाण प्रतिमा को स्वामी और नारायण कहते हुए उसकी दम्भ पूर्ण प्रतिष्ठा कराकर पूजा जारी कराना यह सबसे बड़ी स्वार्थान्धता नहीं तो और क्या है? इसी स्वार्थान्धता ने दम्भपूर्ण नामधारी स्वामिनारायण को यह समझने नहीं दिया कि भागवत महापुराण के आरम्भ में वर्णित **"वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्"** इत्यादि तत्त्व की पहचान क्या है, उसका ज्ञान किन साधनों से सम्भव है, चेतनों का आत्यन्तिक पुरुषार्थ क्या है, पुरुषार्थ के मार्ग में हित क्या है। तत्त्व हित पुरुषार्थों से अनभिज्ञ होने से ही उन्होंने मायावादियों की झोंपड़ी से पञ्चतत्त्व हरण कर लिये और स्वयं सारे जगत् के गुरु एवं सर्वोपरि सर्वावतारी भगवान् बन बैठे। अब उनके पुछल्ले कह रहे हैं कि शास्त्रार्थ में कोई विद्वान् उनको जीत नहीं पाया, हमारे गुरु ने शास्त्रों की बीहड़ों से स्वयम् अक्षर ब्रह्म को खोद निकाला, यह अक्षर ब्रह्म पर ब्रह्म का आधार है, इत्यादि। सत्य भाषण की मर्यादा होती है, मर्यादा लंघन से सत्य को खतरा रहता है किन्तु असत्य की न कोई मर्यादा होती है न उसे खतरे की परवाह होती है।

स्वामिनारायण के सेवक यह पता लगायें कि यह अक्षर ब्रह्म अनन्त तपोनिधि वेदव्यास की नजरों से कैसे बच निकला। ब्रह्म सूत्रों में क्यों नहीं आया। उपनिषद् गीता आदि की पंक्तियों से यदि प्रकट हुआ है तब तो ऐसे और भी घनेरे तत्त्व मिल जायेंगे। वे स्वामिनारायण के झोले में आ नहीं सकेंगे। स्वामिनारायण ने किस शास्त्र में अच्छी प्रतिभा अर्जित की है यह पता नहीं है। उनके वचनामृत से सौराष्ट्री भावुक भक्त एकत्र होते हैं किन्तु उन्हें परमार्थ की जिज्ञासा नहीं होती इससे तत्त्वबोध भी नहीं होता। वे तत्त्व की तलाश करना भी नहीं चाहते। इसी से वचनामृत से छके रहते हैं। स्वामिनारायण ने भगवद्गीता के जो जो अर्थ निकाले हैं उनसे उनके व्याख्यान कौशल का पता चलता है। सन्दर्भ और प्रसंग से हटकर लिखना बोलना कौन नहीं जानता।

ऋषि मुनियों और आचार्यों ने संसारी चेतनों के उद्धार के लिये यह सुझाव दिया है कि परमात्मा से अपना जो सहज और स्वाभाविक सम्बन्ध है उसे दृढ़ता से समझा और ध्यान में रखा जाये। तभी मोक्ष के सारे उपाय सफल होंगे। मोक्ष के उपायों पर भी विशद चिन्तन है। किन्तु यहाँ तो परमात्मा ईश्वर ब्रह्म और पर ब्रह्म बनकर तमाशा देख रहा है कि जीव किधर जाता है। ईश्वर के पास बह जाना नहीं चाहेगा। वह तो माया से कल्पित है, असली नहीं है। ब्रह्म एक प्रतीक है, वैसा बन कर जीव पर ब्रह्म की उपासना कर सकता है। किन्तु पर ब्रह्म उपासना करने पर भी मोक्ष नहीं देगा। उसने बन्धन नहीं दिया है तो मोक्ष कैसे देगा? बन्धन देने वाला ईश्वर यदि मोक्ष देगा भी तो वह मिथ्या होगा। कागज के राजा से मिला राज्य कागजी ही हो सकता है। सही राज्य उसका है कहाँ? मायावादियों के उच्छिष्ट से किसे तृप्ति मिली है। अलग सम्प्रदाय बनाने की कामना ने स्वामिनारायण को कहीं का नहीं रहने दिया। तब उनके पिछलग्गू कहाँ के होंगे। चाहे वे अक्षर ब्रह्म हों या उनके भक्त हों या उनके भतीजों के भाग के हों। फिर वे हरिभक्त हों, पार्षद हों या साधु हों।

दोष किसका?

कुमार्ग पकड़ने पकड़ाने वालों में दोष किसका माना जाये, ऐसा प्रश्न आता है। यहाँ दोष दोनों का होता है, शराब बेचने वाले और पीने वाले दोनों दोषी होते हैं। बेचने वाला रुपया चाहता है, पीने वाला नशे का मजा चाहता है। यह नहीं कहा जा सकता कि गुरु ने चेलों को धोखे में डाल रखा है। धोखा जिन्हें रुचता है वे ही धोखा खाते हैं। मांस के लोभी देवी के भक्त होते हैं, गांजा के लोभी भोले के भक्त होते हैं। हत्यारे महाकाल के भक्त होते हैं। एक बात और भी ध्यान में रखने की है। मनुष्य कुछ बहुत हिंसा पसन्द करता है। सम्प्रदाय किसी न किसी अंश में हिंसा के साधन बन जाते हैं। यदि हिंसा का निमित्त न मिलता तो कम ही लोग सम्प्रदाय स्वीकारते। मानव कोई न कोई सम्प्रदाय पकड़े ही रहता है, चाहे वह धार्मिक हो, राजनैतिक हो, वाणिज्यिक हो या और कोई मानवता का विभाजक हो। सम्प्रदाय की अच्छाई से स्वयं को और सम्पर्कियों को जोड़ना बहुत कम लोग चाहते हैं किन्तु सम्प्रदाय की आड़ से दूसरों का घात बहुत लोग चाहते हैं। दूसरों का घात बिल्कुल न चाहने वाला मानव देवतुल्य एवं दुर्लभ

होता है। हमें दूसरों की घातक प्रवृत्तियों का ध्यान सदा रखना पड़ता है, अन्यथा धोखा होता है। जाति, कुल, गोत्र, नीति, धर्म, धर्म का चिह्न, जन्म का या निवास का स्थान, शिक्षा, रूपरंग, वय और लिंग ये सब और ऐसे ही वे विशेषतायें जो मानवता बांटती हैं, दूसरे मानवों के घात के औजार होते हैं। जैसे मानव के हाथ में डंडा या बन्दूक देखकर दूसरे जन्तु सावधान हो जाते और बच लेते हैं वैसे मानव को भी सामने वाले की वह विशेषता जो सम्प्रदाय भी कही जाती है, ध्यान में रखते हुए, उसकी लक्षित विशेषता की प्रशंसा करते हुए स्वयं की रक्षा करते रहना चाहिये। स्वामिनारायण सम्प्रदाय में कौन सा बड़ा घातक तत्त्व है यह प्रसंगानुसार जान लेना चाहिये। उस तत्त्व के तीन पहलू हैं, पहला वह जो स्वामिनारायण ने दिया है, दूसरा वह जो भक्त शिष्यों ने उस दान का परिष्कार किया है तीसरा वह जो जातीय और क्षेत्रीय कुसंस्कारों से आया है। तीनों को हम क्रम से देखेंगे। इस प्रकार से अन्य सम्प्रदायों को भी देखना चाहिये, इससे सम्प्रदायों के कल्पित भेद मिटते हैं और सज्जनों का सौहार्द बढ़ता है। तब मानवता की सही सेवा होती है। मानवता आदि सम्प्रदाय है, बाद के सारे सम्प्रदाय उसी की शाखा प्रशाखायें हैं। पहले यह देखें कि स्वामिनारायण ने अपने अनुचरों को क्या दिया। उन्होंने वही दिया जो भारत भ्रमण के दौरान कतिपय अधकचरे साधुओं के पास बैठकर पाया था। नया सम्प्रदाय गठित करने की ललक ने उनकी वाणी को थोड़ा घुमा दिया। इन्हें उनके पास **“अहम् ब्रह्मास्मि”** का धुन्धला उपदेश मिला। अपने में ब्रह्म भावना करने से और ब्रह्म भाव पर विश्वास करने से मुक्ति मिलती है ऐसा मान कर उपदेश की दृढ़ता के लिये स्वयं को भगवान् और पर ब्रह्म घोषित करना शुरु किया। तब चेलों ने स्वयं को तो ब्रह्म नहीं समझा पर गुरुदेव को भगवान् मानकर देवालय में उनके सामने ही उनकी पाषाण प्रतिमा बना कर पूजने लगे। इससे स्वामिनारायण का मनचाहा एक नया सम्प्रदाय बन गया। गुरु को भगवान् घोषित करना तो आम बात थी पर गुरु को भगवान् का स्थान देकर भगवान् को उनके सारे शास्त्र ग्रन्थों के सहित अमान्य कर देना और उनके भक्तों के लिये हाथ तक न जोड़ना स्वामिनारायण के नये सम्प्रदाय की विशेषता है। जो काम ईसाई मुसलमान हजारों वर्षों से नहीं कर पा रहे थे वह स्वामिनारायण ने वैष्णव तिलक के सहारे धर्म ग्रन्थों को मानते हुए ही अक्षरधाम नाम की एक काली रेखा से कर दिखाया। यद्यपि

अक्षरधाम नाम का कोई स्वतन्त्र तत्त्व वेदादि शास्त्रों में उपलब्ध नहीं है पर स्वामिनारायण के एक अलग सम्प्रदाय की लालसा से लिप्त मस्तिष्क में वह चमक गया। तब से उनके चेलों के लिये वह चमक ही रहा है। अब तो अहमदाबाद से भी बढ़कर दिल्ली में अक्षरधाम मन्दिर बन कर लाखों रुपये दैनिक बटोर रहा है। मन्दिर हो तो ऐसा हो। यहाँ परम शून्य को अपार सम्पदा के साथ प्रतिदिन मिल रहे हजारों साष्टांग देख देख शून्यवादी बौद्ध स्तब्ध हैं और ईसाई मुसलमान एवं दयानन्दी दल इन मूर्ति पूजकों से मित्रता में ही अपना लाभ समझने लगे हैं।

यह अक्षर धाम या अक्षर ब्रह्म नाम की काली रेखा सारे वेदादि शास्त्रों के सहित उनके प्रतिपाद्य परब्रह्म परमात्मा भगवान् नारायण विष्णु के सहित सारे देवी देवताओं को अपने नीचे गिराकर और नये भगवान् स्वामिनारायण को अपने ऊपर चढ़ाकर भारतीय समाज को बुरी नास्तिकता की ओर आसानी से बढ़ाती जा रही है। इससे स्वामिनारायण के लाल चेलों में चिर सुप्त ब्राह्मण द्रोह भी मुखर होने लगा है। एक साधु को जब वृन्दावन के किसी विद्वान के बारे पता चला तो विद्याध्ययन के बहाने उन्हें बुलाया और जानबूझ कर समान आसन बनाया कि पढ़ने के बहाने वह अपनी लात उन्हें छुवा सके। तब कई कई दिनों के अन्तराल से उसने उन्हें अपनी लात तीन बार छुवायी। लात छुवाने के पीछे अपने अक्षर ब्रह्म होने की उसकी भ्रान्ति भावना काम कर रही थी। साधु बनाते समय गुरु पढ़ा देता है कि तुम अक्षर ब्रह्म हो, आज से स्वयं को अक्षर ब्रह्म माना करो, तभी भक्ति करके पर ब्रह्म को पा सकोगे। आगे गुरु यह भी पढ़ाता है कि यह अक्षर ब्रह्म वह तत्त्व है जो ब्रह्मा विष्णु शिव आदि सारे देवताओं से ऊपर है, मत्स्य कूर्म आदि सारे अवतार विष्णु के होते हैं जब तुम विष्णु से भी ऊपर हो तो उसके अवतारों से भी ऊपर हो ही, इससे सर्वावतारी परात्पर पुरुषोत्तम स्वामिनारायण को प्रणाम करो। उनसे नीचे वाले सारे देवता उन्हें ही प्रणाम करते हैं इत्यादि।

इस प्रकार इस संगठन में घातक अवैदिक कल्पनायें देकर शिष्य बनाने की प्रथा चल पड़ी है। स्वामिनारायण का तरीका भी लगभग यही होगा। वैदिक सिद्धान्तों के विवेचन में अक्षम और स्वार्थी लोग ही इस संगठन के सदस्य होते हैं। यह सब रहस्य न्यूनाधिक जान रहे

उक्त विद्वान ने भी कठिन गम्भीरता अपना कर उसकी मानस गतिविधियों का पता लगाना शुरु किया और यही पाया कि इसे विद्या से तनिक भी लगाव नहीं है। यह तो किसी लोकैषणा से प्रेरित होकर मुझे अपने फर्जी सम्प्रदाय में शामिल करना चाहता है और दक्षिणा प्रचुर देने के आश्वासन बातों के पर्दे से देता रहता है। उनका अन्दाज सही निकला। विदाई के समय तक उसका सारा मंशा खुल गया। यह कोई एक उदाहरण नहीं है। ये साधु धन के बल पर यह काम शुरु से ही करते आये हैं और स्वामिनारायण के समय से ही कुछ ब्राह्मणों को खरीदकर उन्हें साधु का वेश देकर उनसे फर्जी टीका भाष्य आदि लिखवाते रहे हैं। उन्हीं फर्जी किताबों का प्रदर्शन करते हुए ये अपने दम्भपूर्ण सम्प्रदाय में प्रौढ़ ग्रन्थों के होने का भी दिखावा करते आ रहे हैं। असत्य का साथ लोभ ही देता है। धन के लोभी ही कई दक्षिणी पण्डित सैंकड़ों वर्षों से बड़ताल में रहे हैं। उन्होंने इनके इशारे पर कई प्रौढ़ जैसे ग्रन्थ लिख कर फर्जी नामों से छपवाने के लिये दिये हैं। यह पता उन उन ग्रन्थों से ही चलता है।

राष्ट्रिय दृष्टि अपनाइये

स्वामिनारायण ने राष्ट्रहित के लिये कुछ शुरु किया था। अवश्य ही उनका सोच अधूरा था। वे भगवान् रहे होंगे पर भगवान् भी अपूर्ण रुप से ही कुछ कार्य करते हैं। अपूर्णता विश्व का स्वभाव है। किसी महापुरुष ने गुजरातियों के लिये यदि भोजन बनवाया हो तो वह पञ्जाबियों के लिये नहीं होगा, यदि उसने पञ्जाबियों के लिये भी कोई अलग व्यवस्था की हो तो अन्य क्षेत्र वाले बहुतों को उससे सन्तुष्टि नहीं होगी। अपूर्णता कोई बुराई नहीं है, वह तो शुरुआती दौर होती है। उसे आगे बढ़ाने का दायित्व उनके बाद के लोग निभाते हैं। यदि उनके मुंह से कोई अराष्ट्रिय भाषा निकली हो तो उसका भी तात्पर्य राष्ट्रिय हित में ही लेना चाहिये। ऐसा करना उस महापुरुष की सेवा होगा। राष्ट्र ही तो परम पुरुष का विराट विग्रह होता है। तो आइये, अपने साधुओं को वह चश्मा दीजिये जिससे उन्होंने विश्व के सारे देवी-देवताओं को उनकी उन उन शक्तियों के रूप में अपने में समाहित पाया। इससे प्रत्येक व्यक्ति **"निः शेष देवगण शक्ति समूह मूर्ति"** के रूप में सेव्य सम्माननीय और अभिवन्दनीय होता है। भगवद्गीता सारे चेतनों में अपना तादात्म्य देखना सिखलाती है। हम

चाहें तो प्रत्येक मानव को परिपूर्ण राष्ट्रिय महापुरुष स्वामिनारायण के रूप में देख सकते हैं। यदि ऐसी प्रतिभा हमें मिल सके तो गुजरात का यह सम्प्रदाय देशव्यापी ही नहीं, विश्वव्यापी भी हो सकता है। अपने समझदार पटेलों के सिर से ब्रह्मभूत झाड़ दीजिए।

***

गुजरात की भक्ति में स्वामिनारायण का योग

गुजरात के लोग कुछ अधिक ही भावुक होते हैं। भावुकजन बहकावे में जल्दी आते हैं। वे कर्तव्य चुनते हैं, तत्त्व नहीं। महात्मा गान्धी इसके अच्छे उदाहरण हैं। देश को स्वतन्त्रता प्राप्त कराने का श्रेय नियति ने पूर्व बलिदानियों को छोड़कर इन्हें ही दिया। उनकी भावुकता की प्रसिद्ध और छिपी बहुत सी कथायें हैं। भावुकता ही उनकी मृत्यु भी बनी। दयानन्द सरस्वती और भी अच्छे उदाहरण हैं। चूहे ने उन्हें यह सत्य अर्थ पढ़ा दिया कि मूर्ति में जान नही होती। औरों ने पढ़ाया कि वर्णभेद मिथ्या है। उनका संगठन अब भी यह मान रहा है। सत्य तो मानना ही चाहिए। सत्य कमजोर भी होता है तो वह मान लिया जाता है। कमजोर सत्य मिथ्या से विरोध नहीं रखता। उसे मिथ्या भी कहा जा सकता है। किसी ने कहा कि पिताजी का भोजन लाओ, दूसरे ने गुरु जी का भोजन शीघ्र लाने को कहा। दो थाल आ गये, व्यक्ति एक ही थे, जो पिता वही गुरु। दोनों आदेश एक ही के लिए थे। व्यक्ति भेद जो माना गया था वह मिथ्या था। जैसे जो परब्रह्म वही अक्षरब्रह्म, क्षरण न होने से पर ही अक्षर भी कहा जाता है। यदि अक्षर अलग मानें तो पर क्षर कहा जाएगा, वह किसी को अभिमत नहीं है। वेदादि शास्त्रों में कहीं भी अलग अक्षर नहीं मिलता। गुजराती ज्यादा भावुक होते हैं, गुरु के वचनों को वेद का दर्जा देते हैं। सहजानन्द जो नाम के बदले उपाधि के द्वारा स्वामी और नारायण कहे गये वे गुजराती नहीं थे, क्षेत्रीय भेदभाव निकट से समझते थे, गुजरात का समर्थन अपने बाद की पीढ़ी को भी देर तक मिलता रहे ऐसा चाहते थे, तब उन्हें दम्भमय योग बल से अक्षर ब्रह्म अलग दिखाई पड़ गया। अपने उपदेशों में जान बूझ कर उसकी बार बार चर्चा की। कहा कि अक्षर ब्रह्म मेरा नित्य सेवक है, मैं जब जब अवतार लेता हूँ तब तब मेरे साथ रह कर वह मेरी सेवा करता है। ऐसा सुन कर

भी अदूरदर्शी गुजराती भक्तों ने राम कृष्ण वामन परशुराम आदि अवतारों में अक्षर का पता नहीं पूछा, वे भी सहजानन्द के समान पद किसी साधु गुजराती को देना चाहते थे। इधर अपने समर्पित भक्त गुजराती मूलशंकर को अक्षरब्रह्म का अवतार घोषित करके उसे मन्त्र दीक्षा दी और गुणातीतानन्द नाम रख दिया एवम् उसे अहमदाबाद का मन्दिर सौंप दिया। साथ ही घोषित किया कि अक्षरब्रह्म से तादात्म्य बनाकर ही कोई मुझ पूर्ण ब्रह्म परमात्मा की पूजा कर सकता है, अन्यथा उसे सिद्धि नही मिलेगी। साथ ही यह भी समझाया कि तत्त्व-दर्शन और शास्त्रीय विधि-विधान का उपदेश अक्षर ब्रह्म से ही मिलेगा। हरिभक्तों और पार्षदों का मार्गदर्शक वही हुआ करता है। गुरु भी वह होगा। स्वार्थवश शिक्षापत्री में कही बात भूल गये कि मेरे भाईयों के पुत्र ही दीक्षा देंगे। फिर बैकुण्ठ और गो लोक से भी ऊपर के अक्षरधाम से आया स्वयम् अक्षर ब्रह्म जब दीक्षा देने में योग्य है ही तो प्राकृत जन, भले ही वे गुरु के घर के हों या गुरु के द्वारा गोद लिए गये हों उन्हें कोई पटेल गुरु बनाना क्यों चाहेगा। अस्तु, अभी इस सहजानन्द के स्वयम् के विरुद्ध चिन्तन से उनके अनुयायी अब दो चार या पांच भागों में विभक्त और आपस में विरोध करते हुए नजर आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में सर्वत्र समदर्शन तो दूर अपने माने हुए भगवान् के सम्बन्धियों में भी श्रद्धा अब जाने लगी है। मानव विघटन चाहता है, विघटन के सूत्र इसे मिलते ही हैं।

वृन्दावन बिहारी जी के दर्शन कम ही मिलते हैं, ज्यादातर उनके सामने लगी जवनिका दीखती है, उसके दर्शन से ही भक्तजन स्वयम् को कृतार्थ मानते हैं। सहजानन्द ने स्वयम् को भगवान् सर्वावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम आदि घोषित करके वास्तव परमतत्त्व पर एक पर्दा बन गये। गुर्जर भक्त उस पर्दे को ही भगवान् मानने लगे। भगवान नारायण के ध्यान के रूप मन्त्र स्तुति सब छूट गए, तब पर्दा बने चूड़ीदार पायजामा पहने पगड़ी बान्धे द्विभुज सहजानन्द स्वामी नारायण कहलाते हुए भक्तों के हृदय के हार बन गए। पूर्वज जो भी कुछ ध्यान पूजन आदि करते रहे हों वह सब ध्यान नेत्र से ओझल हो गए। उद्धारक स्वामिनारायण को पूर्वजों ने देखा ही कहां था। मोक्षदाता तो अब आए हैं। राम कृष्ण आदि पुराने पड़ गए हैं। भजन तो पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम स्वामिनारायण का करने से मोक्ष होगा। पूर्वजों को मुक्ति का मार्ग नही

मिल पाया था। अब चूड़ीदार पायजामा वाले सहजआनन्द की कृपा से जब ये आधुनिक भक्त मुक्त होंगे तो पूर्वज भी मुक्त हो सकते हैं। जल्दी कीजिये, बोलिये जय सहजानन्द, जय सच्चिदानन्द, जय स्वामिनारायण, गले में तुलसी की कण्ठी बान्धिये, आप परिगणित लोगों में तो नही हैं। हाँ, तो बान्ध लीजिए, ,बीच में जनानी सिन्दूर की तरह चन्द्रक लगाइये और मन्त्र तो जपिये "स्वामिनारायण", इन छः अक्षरों से अन्दर के छः शत्रु भागेंगे। पाँच वर्तमान अपनाइये, गुरु से पूछिये, जल्दी मुक्ति ले लीजिये, यहाँ जीवित को ही मुक्ति मिलती है, मरने की प्रतीक्षा मत करिए।

गुजरात में भक्ति बूढ़ी रहती है **"गुर्जरे जीर्णतां गता"** पद्म पुराण। पोषक आहार कम मिलने से जरा जल्दी आती है। भक्ति का आलम्बन दिव्य हो, उसके शील स्वभाव उदारता शौर्य पराक्रम मानव से ऊपर के हों, उसका रुप भी प्राणीमात्र के लिए आकर्षक और दौड़कर दर्शन के योग्य हो, उसका शील देवताओं को बार-बार अभिभूत और आकृष्ट करता रहे, उसके वचन परोक्ष अर्थ प्रकाशित करते रहें, शकटभन्जन यमलार्जुन उद्धार जैसे बहुत से आश्चर्य दीखते रहें तो दूर के लोगों को भी भक्ति होती है। उस पर भी ईर्ष्या वाले गाली देते ही हैं, गाली न दे पायें तो उदासीन रहते हैं। दुर्योधन, उसके बाप-भाई, उसकी ग्यारह अक्षैहिणी सेना, कंस मामा, मथुरा के धोबी आदि ने कभी भी भगवान श्रीकृष्ण को सम्मान योग्य महापुरुष भी नहीं माना, वे भगवान् तो क्या मानते, इसी से तो धृतराष्ट्र के लिए विदुर को कहना पड़ा कि **"शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्"।** उनका भाव था कि मैं आकर्षक व्यक्तित्व मात्र से, भावुकता में कृष्ण को सर्वान्तर्यामी परमात्मा नहीं मानता, मैं तो वेदादि शास्त्रों में वर्णित परमात्मा के लक्षण भी उनमें देखता हूँ, इससे उनके वचनों के उल्लंघन में अपना खतरा देखा करता हूँ। जो लोग जानबूझ कर भगवान् की आज्ञाओं का उल्लंघन लोभाभिभूत अवस्था में करते हुए अपने अनिष्टों की भूमिकायें बनाते रहते हैं उनकी बात अलग है। विदुर की बात न मानकर सारा कौरव पक्ष विनाश के गर्त में गिरा।

अस्तु, यहाँ इतना ही कहना है कि गुर्जरभक्ति के आलम्बन स्वामिनारायण को गुरु भगवान् मानने वालों का कुछ हित तो हुआ ही होगा किन्तु जिन्होंने उन्हें भगवान् गुरु माना या जो मान रहे हैं उनका

कल्याण सन्दिग्ध है। क्योंकि उन्होंने जो मोक्ष के उपाय बतलाए हैं वे परम्परागत न होने से विश्वसनीय नहीं हैं। यदि कोई उनके बताये उपायों को भगवान कृष्ण और उद्धवजी की परम्परा से जोड़ता हुआ प्रमाण मानता हो तो उसे समझना चाहिये कि सारी समस्यायें सपनों और अवतारों से ही हल नहीं हो जातीं। झूठ कभी भी सत्य का दर्जा नहीं पा सकता। गुर्जरों की भक्ति ज्यादा बूढ़ी हो गयी है, अब वह छड़ी के सहारे भी खड़ी नही हो पा रही। एक ओर सहजानन्द को सर्वावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण कहना और दूसरी ओर मोक्ष के उपाय रामानन्द से सीखने की बात करना असंगत होगा। सर्वावतारी दूसरे से मोक्ष का उपाय क्यों सीखेगा। यदि सीखा भी तो चेले जय स्वामिनारायण न कह कर जय रामानन्द क्यों नही कहते। फिर मोक्ष के उपाय तो तर्कों का सहयोग लिए शास्त्र वचनों से सिद्ध होता है। क्या इस नये भगवान् के या गुणातीत के अनुयायी यह जानते हैं कि पञ्चवर्तमानों का अवलम्ब लेने से पहले शास्त्रों में क्या करना कहा गया है। क्या यह उन्हें पता है कि ये पञ्चवर्तमान भी कब विफल हो सकते हैं? यदि कोई शास्त्रीय आधार विदित हो तो उस शास्त्र के वक्ता को ही गुरु क्यों नही मानते?

गुर्जर अभिजनों को यह समझने का प्रयास करना चाहिये कि इस नये गुरु भगवान् ने पूर्व गुर्जरीय भक्ति भावना का क्या विकास किया है। इसके लिए पूर्व भक्ति के बीज तलाशने होंगे, केवल उस समय पूरे क्षेत्र में दम्भ पाखण्डों का बाहुल्य पढ़ने से काम नहीं चलेगा। आज से दो सौ वर्ष पहले गुर्जर भक्ति अन्धकारमय थी, वहाँ भगवद्भक्तों और तत्त्वदर्शियों का अभाव ही था ऐसा कहना जानबूझकर वहाँ के इतिहास में धूल ढ़कना होगा। कोई अच्छी भक्ति की पतली भी धारा वहाँ अवश्य रही है, दूसरे क्षेत्रों से वह वहाँ अनेक रुपों में अवश्य पहुँची है। दूसरी परम्परा वाले यह अवश्य जानते होंगे। उस प्राचीन प्रामाणिक धारा को इस नये गुरु भगवान् ने कितना लिया है यह जानना है। उनके चेले सम्प्रदाय समझते ही नहीं, केवल संगठनों को सम्प्रदाय कहते हैं। दाल-सब्जी में गुड़ डालना कोई सम्प्रदाय नहीं होता, नया तिलक चालू करना कोई सम्प्रदाय नहीं होता, रंगीन वस्त्र और पगड़ी धारण कोई सम्प्रदाय नही होता। शास्त्र वचनों को अधूरा लेना कोई सम्प्रदाय नहीं होता, भगवान स्वयम् भी मोक्ष के लिये कोई

नया सम्प्रदाय चालू करना चाहें तो यह उनके लिए भी सम्भव नहीं है। क्योंकि अनादि वैदिक सिद्धान्त को वे उतना ही सम्मान देते हैं जितना अपने स्वरूप को देते हैं, इसी से पुराणों में वेदों को भगवान् का रुप कहा है या अभेद बतलाया है। ऐसी स्थिति में उनके भक्तों को पहले यह समझना चाहिये कि हमारा एकान्तिक कहलाने वाला धर्म कहाँ से कब शुरु हुआ, स्वामिनारायण से पहले इसका क्या रूप था और अब इसका क्या रूप है, वेदादि शास्त्रों में वर्णित भगवद्भक्ति में इसका क्या प्रभाव है।

सहजानन्द नामक स्वामिनारायण के संगठन में भगवद्भक्ति के मार्ग में जो दो नये प्रकाशस्तम्भ मिले हैं वे भक्ति और मुक्ति में कितने उपयोगी हैं यह समझना भी आवश्यक है। प्रथम प्रकाशस्तम्भ तो स्वामिनारायण ही हैं जो मूल पर ब्रह्म कहे जाते हैं। संगठन वाले मान रहे हैं कि राम कृष्ण नरसिंह वामन आदि जो उपास्य सेव्य और भजनीय रूप हैं वे बहुत कम हैं जबकि हमारे इष्ट पूर्ण पुरुषोत्तम सर्वावतारी हैं जो कि विष्णु से बहुत ऊपर हैं। जो लोग संगठन से नहीं जुड़े हैं वे, उनके गाँव छपैया के लोग और आस-पास के लोग, उनकी जाति गोत्र के लोग और दूसरे भी क्या मानते हैं यह भी पता भक्ति की पुष्टि के लिए लगाना चाहिये। गुजरात में जो लोग इस संगठन से नहीं जुड़े हैं उनकी धारणा इसके प्रति कितनी संवेदनशील है यह भी जानना चाहिये, वरताल के पास ही नड़ियाद में सन्तराम ही सत्य क्यों कहे जाते हैं, वहाँ का स्वामिनारायण मन्दिर प्रभावी क्यों नही है, इन प्रश्नों पर भी चिन्तन होना चाहिये। ये प्रश्न भक्ति का प्रवाह रोकते होंगे।

दूसरा प्रकाशस्तम्भ जो मूलशंकर से गुणातीतानन्द बना था वह और उसकी शिष्य परम्परा जो मुमुक्षओं का अधिक अन्तरंग माना जाता है जिसे स्वामिनारायण ने अक्षर ब्रह्म का अवतार एवम् अपना नित्यसेवक कहकर ध्येयरुप में स्थापित किया था उसका गम्भीरता से अध्ययन करने की आवश्यकता है। सोचने की बात है कि जब परब्रह्म के अतिरिक्त कोई विभु आत्मतत्त्व वेदादि शास्त्रों में उपलब्ध नहीं है तो यह कैसे पता चलेगा कि वह परब्रह्म का नित्यसेवक है, मुमुक्षुओं को उसका तादात्म्य होता है भक्ति का वही माध्यम होता है, सबका आधार है, उपदेशक और मार्गदर्शक होता है इत्यादि। यह सब

तो इस नये गुरु भगवान् के कहने से ही चेले मानते हैं किन्तु अशास्त्रीय बातें यदि चेले न मानें तो उन्हें कौन सा नरक होगा। कितने चेलों को गुरु की अशास्त्रीय बातों पर आस्था होती है। शास्त्रनिष्ठा के सिवा कोई गुरुभाव नहीं होता। चेलों ने अक्षरब्रह्म का अस्तित्व शास्त्रोंक्त होने की कल्पना से स्वीकारा है, बाद वाले साधु शास्त्रों में ही अक्षर को ढूंढते और बतलाते हैं। कोई यह नहीं कहता कि शास्त्रों में हो या न हो पर हम तो गुरु के कहने से अक्षर को मानेंगे और पूजेंगे ही। गुरु का ही महत्व शास्त्रों पर निर्भर नहीं है, भगवान् का भी महत्व और उपादेयत्व शास्त्रों पर ही निर्भर है। इससे गुरु और भगवान् के बारे एक अलग कल्पना गुर्जरों की अशोभनीय है।

***

प्रमाण और प्रमेय

हरिभक्ति सर्वोत्तम प्रमिति है। यह सर्वोत्तम प्रमाण और सर्वोत्तम प्रमेय की संगति से निष्पन्न होती है। समस्त इतिकर्तव्यताओं से प्राप्त वेद सर्वोत्तम प्रमाण होता है। शिष्य के नैसर्गिक गुण, आचार्य के द्वारा सम्पादित उसके गुण एवम् भगवत्संकल्प ये तीन बड़ी इति कर्तव्यतायें हैं, इनसे जिसे वेद प्राप्त होते हैं वह प्रमाता है, उसकी प्रमिति भक्ति कही जाती है क्योंकि वह प्रेममयी श्रद्धामयी त्यागमयी और पूर्ण समर्पणमयी होती है। यह प्रक्रिया रातों-रात पूरी नहीं होती बल्कि अनेक जन्मों तक जारी चित्त का परिणाम भक्ति का रुप लेता है, तब चिर प्रतीक्षारत मुक्तिसखी मिलने आती है, तब वे दोनों मिलकर परम आनन्दमय एकान्त साधना का निर्विघ्न स्थल परमधाम पहुँच जाती हैं। उनका मार्ग शुरू से अन्त तक प्रकाशमान रहता है। प्रकाश यन्त्र भक्ति की जन्मभूमि अन्तश्चेतना से बनकर निकलता है जो कि बीच में कभी भी न रुकता हुआ परमपद तक प्रकाश देता रहता है। यह औपनिषद सिद्धान्त है, अध्येता जानते हैं। भक्ति धारा का उत्स श्रुतितत्त्वबोध ही है, इसके बिना किसी को भक्ति नहीं हुई न सम्भव है। स्त्रियों अन्त्यजों और तिर्यग्योनियों में जो भक्ति के उदाहरण हैं वे सबके सब पिछले जन्मों के उक्त सदुपाय के ही परिणाम हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी सदाचार्य या सन्त श्रौत तत्त्वबोध में तनिक भी न्यूनाधिकता लाना नहीं चाहेंगे। मूल के बिगड़ने से आगे के सारे

परिणाम बिगड़ने का खतरा रहता है। लौकिक या अलौकिक किसी भी छोटे-बड़े अर्थ के लिये श्रौत अर्थ में हेरफेर की कल्पना भी एक बड़ा अपराध है। श्रौत अर्थों को हम अपनी क्षमता और अधिकार के अनुसार ठीक से समझ लें इतना ही मानव का कर्तव्य और अधिकार है।

"मतं विशिष्टाद्वैतम्मे" कहने वाले घुमन्तू साधु सहजानन्द को सदाचार्यों से अर्थपञ्चक का विशद बोध अर्जित कर लेना था, फिर उसमें कोई त्रुटि यदि समझ में आती तो उन आचार्यों से ही परामर्श कर लेते। उस पर भी यदि उन्हें सन्तुष्टि नहीं होती तो अपना असन्तोष स्पष्ट करते हुए अपने अभिमत तत्त्वपञ्चक पर एक स्वतंत्र पुस्तिका लिखकर चेलों को दे देते तो भ्रान्ति नहीं फैलती। ऐसा तो उन्होंने किया नहीं और परस्पर विरुद्ध वचनों और आचरणों से चेलों को भटकने के लिये छोड़कर चुपचाप तथाकथित अक्षरधाम को सिधार गये। वहाँ फिर उनका मन नहीं लगा तब कृष्णवल्लभदास पटेल बनकर गुजरात में ही उतरे। इस बार पढ़ने में मन लगाया, तर्क संग्रह पढ़ा, मुक्तावली पढ़ी, व्याख्यायें लिखीं, छपवायीं, बहुत सी उपाधियाँ अर्जित कीं किन्तु अन्तरात्मा सन्तुष्ट नहीं हुआ तब अन्त में चेलों से कह ही दिया कि मैं तो वही स्वामिनारायण हूँ जो छपैया में ब्राह्मण दम्पति के यहाँ जन्मा था। यह सुनकर चेलों ने मन्दिर बनवाया और उनकी मूर्ति पूज रहे हैं।

संगठन के सदस्य जानते हैं कि नये गुरु भगवान् ने अनेक बार कहा था कि श्वेतद्वीप, वैकुण्ठ गोलोक धाम और नरनारायण क्षेत्र की सत्संग सभा और उनके श्रोता सदस्यों से हमारी इस सभा के सदस्य कई मानों में या हर माने में अच्छे हैं, यह तथ्य मैं स्वयम् समाधि के नेत्रों से देख रहा हूँ। जब गुजरात के पण्डित साधु कृष्णवल्लभाचार्य ने स्वयम् को स्वामिनारायण का अवतार घोषित कर दिया तब बात सबकी समझ में आ गयी होगी। अवश्य ही घुमन्तू साधु सहजानन्द को गुजरात के लोग भारतीय अन्य लोगों से अधिक अच्छे लगे होंगे, दिखाई भी पड़े होंगे। उन्हें ऐसा भी कोई अक्षरधाम दीख पड़ा होगा जहाँ के लोगों से गुजराती साधु वास्तव में अच्छे हों। मानव शरीर त्यागकर वे उसी अक्षरधाम में पहुँचे होंगे। देही को उसकी प्रकृति के अनुरुप ही लोक मिलता है, वह लोक उसे जीवनकाल में ही दिखाई

पड़े यह स्वाभाविक ही है। वहाँ पहुँचने पर उनका मन तनिक भी न लगा हो और वे उलटे पाँव भूलोक में ही उतरे हों, इस बार वे किसी पटेली की ही कोख में प्रवेश कर गयें हों यह भी स्वाभाविक है। अथवा उन्होंने जीवनभर पटेलों को पटाया और पटेलों ने उन्हें पटाया तब अन्य लोग पराये हो गये। परमधाम वीरान हो गया, जीवनकाल में ही वह वीरान लग रहा था, इससे वहाँ जाने पर भी वीरान ही मिला, हिरण्यकशिपु को भी बैकुण्ठ मिला था, तब दुबारा कृष्णवल्लभ बनकर गुजरात लौटे। यह स्वाभाविक ही लगता है। जो लोग कृष्णवल्लभ को सहजानन्द का अवतार नहीं मानते उनसे मेरी सहमति नहीं है किन्तु उन लोगों से ज्यादा ही असहमति है जो कृष्णवल्लभ को किसी परमपद में पहुँचे मानते हैं। शरीर त्याग कर भी अपनी प्रतिमा में हो रही पूजा लेने के लिये उन्हें दिनरात दौड़ धूप न करनी पड़े इसके लिये वे अदृश्य रूप से अपने नाम के मन्दिर में ही परिक्रमा कर रहे होंगे। उक्त सहजानन्द का अनुयायी बनने का इससे अच्छा और क्या फल होगा।

सहजानन्द गुणातीतानन्द और कृष्णवल्लभ के भगवान् ब्रह्म या अक्षर होनें में प्रमाण केवल इनके वचन हैं, कोई शास्त्रीय आधार नहीं है, उनके समर्पित भक्त चाहे जो मानें पर दूसरे लोग तो इनकी गतिविधियों और वचनों से इन्हें कर्मबद्ध संसारी चेतन ही मानते हैं। यदि ये संसारी चेतन हैं तो अपनी पूजा लेने के लिये अपनी मूर्ति के पास कब तक रह पायेंगे यह विचारणीय है। संसारी चेतन अपने कर्मों के द्वारा भोगों के लिये दूर-दूर देशों और योनियों जाते रहते हैं, उन्हें पिछले जन्म की बातें याद भी नहीं रहती, ऐसी स्थिति में इस मन्दिर निर्माण और पूजा का क्या शुभ फल हो सकता है यह भी विचारणीय है। विधिहीन पूजायें भूतप्रेत पिशाच आदि लेते हैं और पूजकों के बड़े-बड़े अनिष्ट करते हैं यह तथ्य शास्त्रों में प्रसिद्ध है। समाज की दृष्टि में अपने सम्प्रदाय को दृढ़ता देने के लिये संगठन के सदस्यों को ठोस चिन्तन करना चाहिये। वास्तव में किसी भी सम्प्रदाय की दृढ़ता उसकी परतत्त्वमूलकता ही होती है। विश्वसृष्टि का मूलतत्त्व ही परतत्त्व कहा जाता है। उसे ही सत्-असत्, ब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से पुकारा जाता है, सर्वान्तर्यामी होने से उसे ही विष्णु भी कहते हैं। विष्णु शब्द से अन्य भी कल्याणमय अनेक अर्थ हरिभक्तिमय चित्तों

में खुलते हैं किन्तु दुर्मतवासनाग्रस्त नारकीयों को विष्णुतत्त्व माया से ही बना समझ में आता है इससे वे उसे ध्येय सेव्य अनुसन्धेय रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। वैसे ही जैसे म्लेच्छों को हरिभक्त वैदिक आदर्श महानुभाव केवल काफिर लगते हैं। म्लेच्छ स्वयम् को मुसल्लम ईमान वाले कहते तो हैं पर जहाँ-जहाँ उन्हें धन सौन्दर्य रमणीयता आनन्दमयता लक्षित होती है वहीं उन्हें काफिरी दीखती है और गायों पर बाघों की तरह हमला हत्या व्यभिचार लूटपाट करके अहिंसा, स्नेह, आत्मीयता, सेवाभाव, सर्वत्र भगवद्दृष्टि आदि अच्छाईयाँ मिटाकर अपने तथाकथित अल्लाह के लिये वात्सल्यमयी गायें काटकर खूब मसाले मिलाकर पकाते और हर रोज खाते हैं। उनमें उक्त अच्छाईयाँ होती ही नहीं, व्याघ्र एकादशी व्रत नहीं करता। विष्णुद्रोही चाहे जितना भी कण्ठी बान्धे और उर्ध्वपुण्ड धारण करे पर अपने सन्मार्ग पर स्वयम् बड़े रोड़े अटकाते रहने से उसकी उत्तम गति हो ही नहीं पाती। चेले अपने माने हुए गुरु की बड़ाई चाहे जितनी कर लें पर वास्तविकता यही है कि ये लोग बौद्धगन्धी मायावादी वेदान्तियों से भी परमपद सोपान में बहुत नीचे हैं। जब ये बड़ी बेशर्मी से यह लिखते बोलते हैं कि ईश्वर भी माया से बनता है, वह भी जीव की तरह एक मुमुक्षु होता है और विष्णु ईश्वर का ही रुप है तो इनके दुर्भाग्य की पराकाष्ठा जान पड़ती है और इनकी दिखावटी साधुता पर तरस आती है। ये व्याकरण ही नहीं पढ़ते, शब्दार्थ नहीं समझ पाते, प्रमाणों पर इनकी पकड़ नहीं होती **"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"** के आदर्श उदाहरण बनते हुए अत्यन्त अव्युत्पन्न अपने गुरु की लीक पीटते अज्ञानमय, मायामय, पर्वताकार, अक्षरब्रह्म, की ऊँची पीठ पर, खोखले घमण्ड के गद्दे पर बैठे चले जा रहे हैं।

गुर्जरदेश यदि सहजानन्द के शुभागमन से पूर्व केवल दम्भ पाखण्डों का अड्डा था तो अब भी वह वही है। पाखण्ड ने अपने रूप बदल लिये हैं, ऐसा उसका स्वभाव ही है। इसी से तो भागवत माहात्म्य में हरिभक्ति बहुत पहले बोल चुकी है कि **"गुर्जरे जीर्णतां गता"** प्रजा के शुभाशुभ कर्मफलवृक्ष बने करोड़ों महापुरुष पृथ्वी पर आते ही रहते हैं, वे शास्त्रों की ओर उंगली दिखलाते हुए कुछ-कुछ कह जाते हैं और उनके वचनों को छोटे कच्चे फटे बेस्वाद एवम् कीड़ों वाले भी रसालों के लोलुप शिशुओं की तरह अव्युत्पन्न प्रजा,

फलभोगों के लिये दैव से प्रेरित होकर विवेक के बिना ही अपनाती रहती है। वास्तव में वेदार्थ, शास्त्रीय अर्थ, आचार्यवचनों, गुरुवचनों, मित्रवचनों या पत्नी के एवम् पति के भी वचनों के अर्थ, देशकाल अवस्थानुरूप एवम् वक्तृ बोद्धव्यवाच्य विशेषताओं के सामञ्जस्य के साथ ही लेने से हम निःश्रेयस के मार्ग में आगे बढ़ सकते हैं अन्यथा तो किसी एक को गुरु कहकर शेष लोगों की उपेक्षा अनादर द्रोह हिंसा आदि अपराधों की धारा में ही हम बह सकते हैं। शास्त्रज्ञान का केवल दुरुपयोग कर सकते हैं। यदि हममें शिष्यभाव हो तो संसार का प्रत्येक व्यक्ति, वृक्ष, वनस्पति, लता, औषधि, नदी, सरोवर, समुद्र, और काष्ठ-पाषाण आदि भी हमारे गुरु हो सकते हैं। प्रत्येक से कोई अच्छी प्रेरणा हम ले सकते हैं। अन्यथा साक्षात् नारायण ही उपदेश दे रहे हों तो भी धृतराष्ट्र की तरह-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं, न च मे निवृत्तिः,
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

कहते हुए अपनी जड़ता में ही अटल रह सकते हैं। सहजानन्द ने गुजरातियों को बहुत से परमकल्याणमय उपदेश दिये हैं किन्तु उन चेलों ने उनकी वही बातें ज्यादा पकड़ी हैं जो उन्हें पूर्व वासनाओं से ज्यादा अच्छी लगीं। स्वामिनारायण ही भगवान् हैं दूसरा कोई नहीं, मोक्ष वही देंगे, दूसरा कोई नहीं, गुर्जर साधु ही परम भागवत हैं, दूसरे परमपद वाले भी नहीं, ब्रह्मा विष्णु महेश हमारे स्वामिनारायण के सेवक हैं मोक्ष जीवित अवस्था में ही मिल जाता है, परमात्मा को निराकार मानना उनका महान् अपराध है, वचनामृत वेदों से भी अधिक प्रमाण है। इस तरह की उनकी अभद्र शिक्षायें उन्हें बहुत अच्छी लगीं किन्तु वेदादि शास्त्रों के रहस्य समझने चाहिये, उपनिषदों का अभ्यास करना चाहिये, धर्मशास्त्र पढ़ने चाहिये, ब्राह्मणों को भगवान् की मूर्ति समझकर उन्हें भाव से पूजना चाहिये, भगवद्गीता पढ़ना और उसका सही अर्थ समझना चाहिये, श्रीमद्भागवत का पारायण करना चाहिये, उसके सहारे तत्त्वबोध अर्जित करना चाहिये, ऐसी कल्याणमयी शिक्षायें उन्हें वैसे ही अच्छी नहीं लगी जैसे ज्वरग्रस्त को मधुर आहार नहीं रुचता।

उन्होंने कहा कि मैं ही सर्वावतारी परब्रह्म परमात्मा नारायण हूँ, मेरी सेवा पूजा नित्य करो। इतना सुनने पर भी चेलों की रुचि नहीं

जगी। तब चेलों के हृदय का मर्म समझ रहे गुरु ने कहा कि राधाकृष्ण, सीताराम, लक्ष्मीनारायण, नरनारायण की भी मूर्तियाँ स्थापित करो और उनको प्रणाम किया करो किन्तु सेवा पूजा मेरी ही करो। अब चेले चेत गये, क्योंकि अपने भगवान् गुरु की तुलना में अन्य सारे देवताओं की अवहेलना का शुभ अवसर मिल गया। ऊँचाई देखते ही कुत्तों को पेशाब लग आती है। गुरु स्वयम् नहीं समझ पाये कि प्रणाम सबसे बड़ी और अन्तिम पूजा है, वह यदि है तो सारी पूजायें होंगी ही, वह नहीं तो अश्वमेघ भी अधूरा रह जाता है। व्याकरण, पुराण, वेदान्त, भक्तिशास्त्र के मर्मज्ञ प्रणाम शब्द का पूरा अर्थ समझते हैं, गुजराती के सिवा अन्य कुछ न जानने वाले क्या जानें कि सेवा पूजा उपासना और प्रणाम में क्या अन्तर होता है। जिस सर्वावतारी ने अरब में म्लेच्छों को अल्लाह के लिये गाय काटना और जेहाद करना सिखलाया उसी ने गुजरातियों को उलटी पूजा पढ़ायी। जो जैसी भाषा समझता हो उसे वैसी भाषा से सन्मार्ग पकड़ाने में सर्वावतारी को सबसे बड़ी कुशलता सहज प्राप्त है। वे विशेष शिक्षा के साथ साथ शाश्वत शिक्षा भी देते हैं, दी भी है किन्तु चेले अभी तक शाश्वत शिक्षा का पन्ना उलट नहीं पाये हैं। यही दशा ईसाई मुसलमानों की भी है। ईसा मुहम्मद ने भी शाश्वत धर्म बतलाये हैं किन्तु वे स्वार्थ की राजनीति में उपयोगी नहीं लगते इससे चेलों को नहीं रुचते। वास्तव में सारे विश्व के गुरु एक मात्र विश्व के रचयिता ही हैं, वे चेलों के लौकिक स्वार्थ पर ज्यादा ध्यान रखते हैं, परमार्थ की दिशा में उनकी अयोग्यता सदा समझते रहते हैं। सारे गुरु विभिन्न शैलियों से त्याग वैराग्य युक्त मोक्षोपाय रुपी एक ही राजपथ पकड़ाने के उपदेश दे रहे हैं। यह समझने वाले भक्तिमार्ग में शीघ्र आगे बढ़ते हैं किसी एक ही बिन्दु को बन्दरमूठ की भाँति आग्रह के साथ पकड़े रहने वाले लोग बन्दरों की ही भाँति स्वार्थी, संकीर्ण, चपल और मूढ़ होते हैं।

स्वामिनारायण कहे जा रहे सहजानन्द या नीलकण्ठवर्णी या घनश्याम ने भक्तिमार्ग में जो व्यापक परिवर्तन किये हैं, उनसे चेलों का कितना हित सम्भव है यह विचार कर लेना चाहिये। पहले तो उन्होंने भक्ति के आलम्बन में ही परिवर्तन कर दिया। भक्ति का आलम्बन कोई एक रमणीय रुप होता है, **"सशंखचक्रं**

सकिरीटकुण्डलम्" इत्यादि। उस रूप का ध्यान किया जाता है, उसी रूप का सर्वत्र दर्शन का अभ्यास भी किया जाता है। ध्येय का एक अतीन्द्रिय रूप होता है, उसी का सर्वत्र अनुसन्धान किया जाता है और सारी चेष्टायें और क्रियायें जो विभिन्न प्राणियों एवं जड़ द्रव्यों की देखी जाती हैं वह उस अतीन्द्रिय की ही मानी जाती हैं। जैसे तेज आन्धी आ रही है तो वह भगवान् ही आन्धी बनकर दौड़ रहे हैं, जंगल में आग बनकर भगवान् ही फैल रहे हैं, वे ही शेर बनकर मृगों को झपट रहे हैं, इत्यादि। स्वामिनारायण ने उक्त तीनों अभ्यासों में बदलाव कर दिया। ध्यान के लिये स्वयम् को सर्वाधिक रमणीय, गुणपूर्ण और शाश्वत घोषित किया। तब चेलों ने पूछा कि शास्त्रों में वर्णित विष्णु, शिव, ब्रह्मा, राम, कृष्ण, नरसिंह, वामन, नारायण आदि और गणेश, हनुमान, दुर्गा, सूर्य आदि जो रुप हैं उन्हें हम क्या समझें? तब उत्तर मिला कि ये सब भी भगवान् ही हैं पर दूर के हैं, इनका भी आदर और प्रणाम किया करो। किन्तु ध्यान उपासना पूजा आदि मेरा ही करो, मेरी आज्ञा का पालन करो, इसी से कल्याण होगा। निकट के भगवान् को छोड़कर दूर के भगवान् को भजने से निकट के भगवान् का अपराध होता है, उस अपराध का प्रायश्चित कठिन होता है। यहाँ यह समझना चाहिये कि कोई व्यक्ति स्वयम् को रमणीय कह कर भी अपने रुप में आकर्षण नहीं बढ़ा सकता, उनके चेलों ने उनके रुप की अलौकिकता कभी नहीं कही है। स्वयम् को गुणपूर्ण कह कर भी शास्त्रज्ञ, सिद्धयोगी, सबल सफल संकल्पवाला, अघटित घटना पटीयान् समर्थ नहीं बना सकता। अपने शरीर को शाश्वत तो कहा पर जीवन का पचासवाँ वर्ष नहीं देख सके और शरीर त्याग की पूर्व सूचना चेलों को नहीं दे पाये। यह तथ्य सारे चेले जानते हैं जो उनकी भक्ति को काट रहा होगा। स्वयम् को साकार परिच्छिन्न एकदेशी बतलाकर भक्तों के लिये सारे दृश्यों में तादात्म्य या अन्तर्यामी रुप से अपने अनुसन्धान का मार्ग बन्द कर दिया। इस तरह भक्ति का दूसरा पक्ष भी जाता रहा। गुजरात में मुझे बहुत समय तक बहुत से साधुवेशी मिले पर कोई भी कभी किसी व्यक्ति में अपने गुरु भगवान् का तादात्म्य या उपस्थिति मानता हुआ नहीं मिला। किसी गर्व से फूले सभी मिले। कुछ सौम्य प्रकृति के शान्त चित्त युवक साधु भी मिले। उनमें साधुता का नशा नहीं चढ़ा था। जैसे भाफ से भी कभी बिजली

का करेण्ट फैलकर मृत्यु ला देता है ऐसे ही काल्पनिक अर्थ से भी दुरभिमान बढ़कर संसारमृत्यु से जोड़ देता है। नीलकण्ठ वर्णी का भगवान् होना, एक और ब्रह्म का नया पता चलना, उनसे तादात्म्य और भक्ति का अन्धप्रयास यह सब विफल ज्ञान और अनुष्ठान मात्र नहीं है बल्कि दुरभिमान बढ़ाकर नरक का साधन भी बनता है। **"ते विप्रन सन पावँ पुजावहिं, उभयलोक निज हाथ नसावहिं"** इस गोस्वामी तुलसीदास के वचन को चरितार्थ कर रहे बहुत से साधु मिलते हैं जो इस नये गुरु भगवान् के द्वारा बने हैं। उनके अज्ञानमय उपदेशों से हरिभक्ति की वृद्धि कम दीखती है, दुरभिमान ही ज्यादा देखा जाता है गलत प्रक्रिया से आया तत्त्वबोध भी दुरभिमान बढ़ाकर स्वयम् के विनाश का कारण बन जाता है।

इससे किसी ग्रन्थ के या व्यक्ति के वचनमात्र से उसके ज्ञान के शुभ–अशुभ भाव का निर्णय नहीं हो पाता। देखना पड़ता है कि प्रमाता के मानस पटल पर, उसके अहंकार पर प्रस्तुत ज्ञान का कैसा प्रभाव पड़ रहा है, जब तक उसमें नम्रता नहीं आती तब तक उसका ज्ञान उसके और उसके अनुचर का हित या पथ्य नहीं होता। इसी से भगवान् कृष्ण ने गीता बारहवें अध्याय में भक्ति की शर्त रखी है–**"अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्"** किसी भी प्राणी के प्रति द्वेषभाव न रखने वाला (मेरा प्रिय होता है) यहाँ बहुवचन से ही प्राणिमात्र का बोध सम्भव था, तब सर्व विशेषण क्यों रखा गया? उत्तर है कि परमार्थ पथ के पथिक को द्वेष उन पर भी नहीं रखना है जो अपने प्रति द्वेष रखा करते हैं। **"शठे शाठ्यं समाचरेत्"** इस नीति के अनुसार शठ के प्रति शठता वे व्यवहारमात्र में रखते हैं, परमार्थभूत अपने चित्त में तो **"मैत्रः करुण एव च"** बने रहते हैं। उनके लिये भी हित ही होते, दयावान् होते हैं। विरोधियों के भी संग्रह के लिये सर्व विशेषण जोड़ा गया है। अक्षर कहे गये गुणातीतानन्द के जीवन में यह साधुता पायी गयी है। किन्तु उन्होंने जो स्वयम् को अतिरिक्त अक्षर ब्रह्म घोषित किया और विश्वास जमाने के लिये चमत्कार दिखलाया वह तो चेलों की वह विफल कल्पना है जिसे किसी भी तर्क या प्रमाण का सहारा नहीं मिला है। कहा जा सकता है कि स्वयम् गुमराह एवम् स्वयम् बने एक भगवान ने एक सहज त्यागी भजनपरायण सन्त को अपने दूरगामी अज्ञान की धारा बहाने का एक माध्यम बना दिया। गुणातीत की

जीवनी मुद्रित है, उसमें पण्डितों को शास्त्रार्थ में जीतने की बात आयी है। वैसे सन्दर्भ लिखने पढ़ने वाले एवम् सन्तुष्टि वाले केवल अबोध शिशु ही कहे जा सकते हैं। वचनामृत संग्रह गुरु की ही शास्त्रीय योग्यता प्रकट कर रहा है, चेला क्या शास्त्रार्थ करता, उसने तो एक जादू दिखाया और वेदान्त में अति पिछड़े जिज्ञासुओं को वापस कर दिया। यदि इस संगठन में आज प्रज्ञा हो तो, या एक सौ वर्ष बाद ही कोई प्रज्ञा हो और अपने गुरु की दिखलायी नयी अटपट पद्धति को पूर्व परम्पराओं में से किसी से भी श्रेष्ठ सिद्ध करने का सामर्थ्य समझ में आये तो एक सुन्दर ग्रन्थ लिखकर संगठन वाले प्रकाशित करें जिसे पढ़कर लोग अपनी परम्परा छोड़कर नये अक्षर की उपासना शुरू कर सकें।

वास्तव में घनश्याम, नीलकण्ठ, हरि, सहजानन्द और स्वामिनारायण नामों को अर्थहीन बना चुके इस नये गुरु भगवान के चेलों का हित इसी में है कि वे अपनी भावना को तौलकर वल्लभ, निम्बार्क, मध्व, रामानन्द (वैरागी) चैतन्य अथवा किसी भी मायावादी संगठन में प्रवेश लेकर आत्मरक्षा की दिशा में आगे बढ़ें। इस नये अति अव्यवस्थित पन्थ से तो उक्त सारे पन्थ बहुत अच्छे हैं ही। यह बात गहराई तक समझकर लिखी जा रही है। यहाँ कोई ईर्ष्या या अवहेलना का भाव नहीं है। संगठन वाले चाहें तो अपनी भौतिक सम्पदा चार गुनी बढ़ा लें, किन्तु अपना कोई नया वेदान्त सम्प्रदाय या भक्ति सम्प्रदाय गढ़ने की कल्पना छोड़ दें, यही उनकी स्वस्थता होगी। अलग सम्प्रदाय की धुन तो इनकी कठिन सन्निपात ज्वर है। वेदान्त सम्प्रदाय अनादि एक के सिवाय दूसरा न तो हुआ है न होने वाला है। वेदान्त तत्त्वबोध के अधीन जो स्वाभाविक मानस व्यापार जारी रहता है वही भक्ति कहा जाता है। सविकल्प निर्विकल्प समाधिभेद से, आलम्बन के भेद से, आलम्बन के प्रति स्वाभाविक कल्पनाओं के भेद से, मानस और शरीर भेद से भक्ति एक व्यक्ति की भी, एक सिद्ध या मुमुक्षु की भी अनेक रुप लेती और छोड़ती रहती है। फिर भी प्राज्ञों की दृष्टि में भक्ति एक ही होती है। यह भक्ति जब ध्येय का आकार लेती है और संकल्पपूर्वक समाधि की अवस्था ज्यादा समय तक रहती है तब मुक्ति निकट समझ में आती है किन्तु उसकी निकटता या दूरी का पता केवल सर्वान्तर्यामी को रहता है। वे ही

जानते हैं कितने जन्मों के बाद या कितनी लम्बी समाधि के बाद यह साधक संसार में उतरेगा या परमपद की ओर बढ़ेगा। ऐसा इस कारण से होता है कि किसी के भी अन्तःकरण की अवस्थाओं और परिणामों के एक मात्र साक्षी वे अर्न्तयामी ही होते हैं। योगी की दृष्टि कुछ विकसित अवश्य होती है किन्तु ईश्वरीय सर्वज्ञता उसे नहीं मिलती। सञ्चित कर्म अज्ञान की सुरक्षा का दायित्व निभाते रहते हैं। भक्ति से चित्त उत्तरोत्तर शुद्ध होता है, दुर्वासनायें मिटती हैं, भगवत्तत्व का साक्षात्कार होता है, इतना तो सर्वसम्मत है किन्तु मुक्ति के लिये और भी कुछ उपाय अपेक्षित रह जाता है, ऐसा कतिपय महान् मनीषी ही मानते हैं। इस पर अन्यत्र चिन्तन सम्भव है। यहाँ इतना ही कहना है कि भक्ति के भी नाना सम्प्रदायों की कल्पना निराधार है।

ऐसी स्थिति में अलग एक नया सम्प्रदाय खड़ा करने की धुन यदि सहजानन्द को हुई तो वह धुन कोई अभिनन्दनीय नहीं थी, न ही अनुकरणीय थी, उन्होंने नया सम्प्रदाय बना लिया ऐसा मानना तो और भी अज्ञान है। जो लोग उनके उद्यम में चार चाँद लगा रहे हैं वे कागज की नाव से समुद्र पार कर रहे हैं। पञ्चतत्त्ववाद यदि कुछ प्राचीन है तो भी उसका कोई आदर परमार्थपथ में नहीं रहा है न उसका शिष्ट परिग्रह पाया गया है। सहजानन्द ने उन पञ्चतत्त्वों पर ऐसा प्रकाश नहीं डाला है कि मोह या अज्ञान निवृत्त हो या हरिभक्ति में थोड़ी भी वृद्धि हो। झूठे अर्थों से भी यदि परमार्थ पकड़ में आये तो उनका आदर सम्भव है किन्तु यदि कोई सत्य भी अर्थ हो और कल्याणकारी न हो तो वह मिथ्या ही है। सहजानन्द की भाषा कहीं भी विश्लेषणात्मक नहीं है, केवल उपदेशात्मक और आदेशात्मक है। इससे वे एक साधु माने जा सकते हैं कोई योगी या आचार्य नहीं। भगवान् तो उन्हें उनके सारे चेले मान ही सकते हैं। उन्हें पिछले दो सौ वर्षों के भगवानों की गिनती कर लेनी चाहिये। फिर यह भी देखना चाहिये कि कितनों ने स्वयम् को भगवान् घोषित किया है। घोषणा का प्रभाव कितना हुआ यह सोचना चाहिये। संगठन वालों को चाहिये कि संगठन से बाहर के गुजराती उनके गुरु भगवान् को क्या मानते हैं यह समझा करें। दूसरे लोग जैसा मानते हैं वैसा चेलों के चित्त में न चढ़ता हो यह सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उनकी भक्ति केवल कहने सुनने की चीज रह जाती है। चेले उनके तिल मस्सा आदि का भी ध्यान करते हैं। उनके

पहनावे के डिजाइन भी ध्यान के लिये बनवाये रहते हैं अत्यन्त प्रीति समझ में आती है किन्तु मुस्लिम शासन काल में हिन्दू लोग हत्यारे बादशाहों पर श्रद्धा रखते थे, आज के कांग्रसी कुरान और बाइबल को वेदों का दर्जा देते हैं। क्या यह सब श्रद्धा के उदाहरण हैं? कभी नहीं, यह तो क्षुद्र स्वार्थ की गन्दी राजनीति है। सहजानन्द ने कई बार कहा है कि जो यह नहीं मानेगा वह मेरे सम्प्रदाय में नहीं रह पायेगा। सम्प्रदाय के छूटने और उससे सम्बधित क्षुद्र स्वार्थ के रुकने के भय से ही तो बहुत लोग उनकी बातों की समीक्षा छोड़ कर अन्धानुकारी बने रहे हैं। आज भी जो उनकी नीतियों पर आस्था रखते हैं वे कुछ कुछ स्वार्थ के नाते ही रखते हैं। अन्यथा उन्हें यह कहाँ मिल गया कि ईश्वर को भी मुक्ति चाहिये। वे कहेंगे कि हमारे गुरु ने खुद कहा है सो ठीक है, गुरु की खुद की कही बातें तुम कितना मान पाते हो। तुम्हारा गुरु तो खुद ही बार बार अपने विरुद्ध बातें कहता रहा है। तुम उसके कबके चेले हो। तुम तो उस दम्भी के नाम से अपनी रोटियाँ सेंकते हो। भक्ति तुम्हें कब कहाँ किस पर हुई है। तुम्हारी भक्ति का आलम्बन ही क्या है। सहजानन्द की हड्डी यहीं गुजरात में सुरक्षित है। उस पर कितने फूल चढ़ाते हो? अक्षरधाम वैकुण्ठ से ऊपर है यह तुम्हारे गुरु ने कहा है, कितना किलोमीटर ऊँचाई पर है यह भी उसे बताना था। **"गुर्जरे जीर्णतां गता"** कहकर भक्ति ने यह बतला दिया कि इस धरती पर ऐसे दम्भी लोग जन्म तो लेते ही हैं, बाहर से भी आ पड़ते हैं।

बकरी के गल के स्तन सुन्दर, गुर्जर की हरिभक्ति।
स्वामी के बिस्तर पर देखी, गजब सुन्दरी मुक्ति॥
गजब सुन्दरी मुक्ति, मिल रही इस जीवन में।
सम्प्रदाय स्वीकार करो अब जल्दी मन में॥
कहे साधु का शिष्य, सुनो गुर्जर का बन्दर।
यहीं रमो मन लाई, चपल मत बनो छुछुन्दर॥
भक्ति नहीं मुर्दों पर होती, और नहीं उन जिन्दों पर।
लोभमोह से लटक रहे जो, खुद के रोपे फंदों पर॥
अक्षर से हो गया क्षरण, वट गया संगठन उससे ही।
कलि में यह भगवान् आ गया, मोक्ष मिलेगा इससे ही॥

***

स्वामिनारायणभावप्रवेशिका

किसी भी संगठन के सदस्यों की कुछ आधारभूत मान्यतायें होती हैं। स्वामिनारायण संगठन के सदस्य भी निम्नलिखित आधारभूत कुछ मान्यतायें रखते हैं और इनके विपरीत सोचना या सुनना भी पाप समझते हैं।

1. हमारे स्वामिनारायण पूर्ण पुरुषोत्तम अक्षरातीत पर ब्रह्म सर्वावतारी हैं, हमारे कल्याण के लिए ही प्रथम बार पृथ्वी पर अवतार लिए हैं। इनकी ही उपासना से मुक्ति मिल सकती है, अन्य अवतारों की उपासना से नहीं।

2. हमारे स्वामिनारायण पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम हैं, उनका ज्ञान परिपूर्ण है, इससे उनके वचन वेदादि शास्त्रों की अपेक्षा अधिक ही प्रमाण हैं, इससे उनके वचनों पर कुछ भी शंका करना उनके प्रति अपराध है और मोक्ष में बाधक है।

3. इस सम्प्रदाय में गुरु अपने शिष्यों को अपने दृढ़-संकल्प से वह अक्षर ब्रह्म बना देते हैं, जिसका पता दूसरे सम्प्रदायों को आज तक नहीं है। अक्षर ब्रह्म बन जाने के बाद पर ब्रह्म की सेवा पूजा करते रहना मोक्ष ही है। शरीर छूटने के बाद सदा ही मोक्ष जारी रहता है, उसका कभी अंत नहीं होता।

4. इस सम्प्रदाय के सारे साधु जीवित अवस्था में ही मुक्त रहते हैं क्योंकि वे अक्षर ब्रह्म के साथ रह कर पर ब्रह्म की सेवा में लगे रहते हैं। पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम स्वामिनारायण के अवतार के साथ अक्षर ब्रह्म का भी अवतार हुआ है। स्वामिनारायण ने उनकी पहचान कर के एक साधु के रूप में दीक्षा दी और गुणातीतानन्द नाम रखा। उनके बाद से अक्षर ब्रह्म का सिलसिला जारी है। अभी प्रमुख स्वामी अक्षर ब्रह्म हैं, उनका शरीर शान्त होने के बाद इनके बनाए संत इनके द्वारा ही अक्षर ब्रह्म बनाए और माने जाएंगे। अक्षर ब्रह्म से सेवा पूजा प्राप्त कर रहे स्वामिनारायण मूर्त-अमूर्त दोनों रूपों में सदा उपलब्ध रहते हैं।

5. राम कृष्ण आदि अवतार विष्णु के हैं, विष्णु ईश्वर हैं। ईश्वर भी जीव की तरह माया से बना होता है, उसे भी मुक्ति की आवश्यकता होती है। जो स्वयम् बंधा है वह दूसरे को क्या मुक्त कर सकता है। इससे विष्णु की उपासना से ऊपर उठकर माया से निर्लिप्त अक्षर ब्रह्म से अपनी एकता बनाकर पर ब्रह्म की उपासना स्वामिनारायण

सम्प्रदाय के साधु करते हैं। साधु दूसरों को यथोचित सम्मान देते हैं किंतु अक्षर ब्रह्म से अपनी समानता और दूसरों की अति निम्नता का ध्यान भी रखते हैं।

किसी दुरभिसन्धि से गढ़ी गई उपर्युक्त पांच भ्रान्ति रूपी महान भूतों से स्वामिनारायण का ढांचा खड़ा हुआ है। अज्ञान से होने वाली भ्रान्तियों का तो वारण प्रमाणों से हो जाता है। किंतु स्वेच्छा से अर्जित अज्ञान का वारण प्रमाणों से भी नहीं होता। वह तो प्रमाणाधीन न होकर इच्छा के अधीन होता है। चूंकि यह गुजरात से बाहर भारत में कहीं नहीं फैल सका इससे ऐसा लगता है कि कुछ गुजरातियों के संगठन ने स्वामिनारायण के सहारे जानबूझ कर यह भ्रान्तियों का जाल खड़ा कर रखा है। स्वयम् भगवान् बन पुजवा रहे कई ढोंगी वहां रहे होंगे, उनसे अधर्म फैल रहा होगा, उन्हें दबाना आवश्यक रहा होगा। इधर स्वामिनारायण को अपने घर वालों के सहित बड़ी प्रतिष्ठा और जीविका पाने की भूख रही होगी। इससे दोनों पक्षों का मत मिल गया होगा। अन्यथा स्वामिनारायण की बातों में अनेक त्रुटियों का अनुभव किसी को न हुआ हो यह संभव नहीं था। उनके वचनों में बहुत से पूर्वापर विरोध के अलावा प्राचीन सांख्य योग वेदान्त आदि शास्त्रों और सम्प्रदायों पर निराधार भ्रान्त कल्पनायें भी हैं। बड़ताल में नाना शास्त्रों में पारंगत श्री वैष्णव वेदान्ती अनेक विद्वान क्रम से रहे हैं। उन्हें इन्होंने अपना वचनामृत कभी नहीं दिखलाया, अन्यथा उसकी धज्जियां उड़ जातीं। उन्हें तो ये लोग **'मतं विशिष्टाद्वैतम् मे'** यह अपने गुरु की चापलूसी भरी भाषा कभी कभी सुना कर रिझा लेते थे। इस तरह ये लोग अपने बनाए गए गुरु के इशारे पर चुपके-चुपके अपना एक नया सम्प्रदाय खड़ा करने की तैयारी में रहे हैं। इनकी यह घोषणा एकदम फर्जी है कि हमारे गुरु बचपन में ही शास्त्रार्थ में काशी में जीत गए थे और मिलने वाले दूसरे विद्वानों को भी शास्त्रार्थ में हराया था। यदि यह घटना सही थी तो काशी के सभास्थल का, मध्यस्थ विद्वान का, प्रतिवादी विद्वानों का और वाद के केन्द्रभूत विषय का उल्लेख होता। वहां से उन्हें प्रशस्ति पत्र मिला होता, उसकी भी चर्चा होती। फिर यह बात तो और ही उपहास का पात्र है कि उन्होंने अपने बचपन में ही काशी में अपने अभिनव पंचतत्त्ववाद की स्थापना कर ली थी। ऐसे कथन का उद्देश्य भोले साधुओं को भ्रम जाल में फांसे रहने के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में आज तक

के इनके वचन कागज की नाव से अधिक कुछ नहीं हैं। वचनामृत की भाषा कहती है कि इस वक्ता को शास्त्रार्थ की भाषा बोलने की योग्यता तो नहीं ही थी, समझने की भी योग्यता और उत्साह नहीं था। शास्त्रों की भाषा ही अलग होती है चाहे वह कोई भी भाषा हो। अनुयायी लोग मिथ्या श्रद्धा के कारण भी अपने गुरु के दोष नहीं टटोल पाते।

अस्तु, इनकी उक्त पांच मान्यताओं पर भी संक्षेप से विचार करने की आवश्यकता है। यदि स्वामिनारायण कोई असामान्य अवतार हैं तो वेदादि शास्त्र ग्रंथों में उनका उल्लेख क्यों नहीं है। यदि कोई कहे कि फलाने पुराण में एक श्लोक है जो फलाने प्रेस से छपा है तो दूसरे प्रेसों के ग्रंथों में क्यों नहीं है? भगवान् का बुद्ध रूप द्वापर का है, सिद्धार्थ गौतम अवतार नहीं हैं। कलि में केवल कल्कि अवतार ही वर्णित है, तब ये स्वामिनारायण भगवान् के अवतार कैसे हुए? यदि पुराणों के सामान्य वचनों से यह अवतार ही सिद्ध न होता हो तो यह सर्वोपरि कैसे हो गया? जैसे किसी मक्खी के कहने से कोई भी पक्षी यह नहीं मान लेगा कि यह सातवें आसमान से आई है। वैसे मानव रूप में उपलब्ध स्वामिनारायण स्वयम् कह कर भी पर ब्रह्म परमात्मा नहीं ठहर सकते। किसी भी सम्प्रदाय की मान्यता का यदि कोई ठोस आधार न हो तो दूसरे लोग उसे गलत ही कहेंगे। ईसा का क्रॉस और म्लेच्छों का खतना अशास्त्रीय और अवैज्ञानिक हैं स्वामिनारायण को भगवान् मानना और पूजना उनके चेलों तक ही सीमित है। दूसरों की दृष्टि में न तो वे भगवान् हैं न कोई आचार्य न कोई योगी या सन्त। कोई प्रमाण न होने से वे भगवान् नहीं। कोई उनका प्रौढ़ ग्रन्थ न होने से आचार्य भी नहीं। वचनामृत बिगड़ैल साधुओं की जीविका हो सकता है। शिक्षा पत्री किसी बच्चे का लेख है। शास्त्र विरुद्ध बातें बार-बार बोलने के कारण वे योगी या सन्त भी नहीं माने जा सकते। मनमाना सम्प्रदाय वाले कुछ भी मानें पूजें तो इससे दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अब ये अपनी कुछ पुस्तकें बाजारों में फैलाने लगे हैं, इसका कोई परिणाम बरसाती शलभों से ज्यादा नहीं मिल पाएगा। भगवान् के पुराणोक्त नाना अवतारों पर इनकी टिप्पणियां टिटहिरी की टिट् टिट् से अधिक कुछ नहीं है।

वेदादि ग्रंथों के महत्त्वपूर्ण वाक्यों की समीक्षा होती है, मीमांसा

होती है, उनके पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष और सिद्धान्त प्रस्तुत होते हैं तब मोक्ष का मार्ग खुलता है। वचनामृत वाच लेना या सुन लेना कभी भी मोक्ष का उपाय नहीं हो सकता। वक्ता के ज्ञानी होने से श्रोता भी ज्ञानी नहीं हो जाता, न उसके हृदय के संशय दूर होते हैं। इस वचन संग्रह में भ्रम बढ़ाने के पचासों उपाय हैं।

स्वामिनारायण ने अक्षर ब्रह्म नामक एक नया महान ज्योतिर्मय तत्त्व घोषित करके उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश से ऊपर और परात्पर पुरुषोत्तम से नीचे बतलाकर स्वयम् उसे ही मोक्ष का प्रमुख उपाय कहकर अपनी पूजा अवश्य प्राप्त कर ली, किंतु इससे यह भी सिद्ध हो गया कि इस प्रमुख उपाय के अभाव में प्राचीन मुमुक्षु मोक्ष से वंचित ही रह गए। अर्थात् स्वामिनारायण को मोक्ष का सही उपदेशक कोई नहीं था। इन्होंने एक नया तत्त्व ही नहीं ढूंढ़ा है बल्कि परमपद में वैकुण्ठ से ऊपर गोलोक और उससे ऊपर अक्षर धाम का पता भी लगा लिया है। यानी उनका ढूंढ़ा हुआ नया तत्त्व परम तत्त्व पुरुषोत्तम को अपनी गोद में लेकर सबसे ऊपर वहां बैठा है जहां तक किसी भी देव-गंधर्व आदि का ध्यान भी नहीं गया है। स्वामिनारायण ने स्वयम् मान लिया है कि मेरा मोक्ष मार्ग वेदांत में होता हुआ भी प्राचीन वेदज्ञों द्वारा अछूता ही है। किंतु यदि गुर्जर भावुक भक्तों के सिवा दूसरे लोग इस नयी स्थापना को स्वीकार न कर पाएं तो यह मत वेदबाह्य ही ठहरेगा। मालुम होता है कि स्वामिनारायण को वैदिक मर्यादा में जीना स्वयम् पसंद नहीं था इसी से निराधार कल्पना की धारा में स्वयम् बहे और दूसरों को भी बहा दिया। उदीयमान अक्षर ब्रह्म एक साधु ने नये अक्षर ब्रह्म पर बहुत से शास्त्र वचन उद्धृत किए हैं किंतु उन्हें शास्त्र सरणि का पता नहीं है इससे उनका कोई भी उद्धरण ढक्कानाद से अधिक प्रभावी नहीं हो पाया। यह गुजराती अक्षर गुजरात के मजबूत पत्थरों के नीचे ही दबकर रह सकता है। यह दम्भ और मिथ्या महत्त्वाकांक्षा से कल्पित अक्षर ब्रह्म अनेक घातक अनर्थों का कारण है। भ्रम से बना साधु स्वयम् को ब्रह्मा, विष्णु व महेश से ऊपर अक्षर ब्रह्म के तुल्य मानता है। वेदादि शास्त्रों में निपुणता न होने से केवल सुनी सुनाई बात पर चलता है। स्वामिनारायण ने ही स्वयम् अपनी सृष्टि को बिगाड़ कर रखा है। फलतः इनका बनाया साधु विष्णुभक्तों को या राम कृष्ण आदि के भक्तों को और उनके इष्टों को

भी अपने से निकृष्ट मानता है, इससे जिससे खुश होता है उससे केवल हाथ मिलाता है। सिर झुकाना वह जानता ही नहीं। साष्टांग प्रणाम वह अपनी मानी सर्वोपरि सत्ता स्वामिनारायण की प्रतिमा के लिए ही करता है। किंतु प्रणाम के आठवें प्रमुख अंग का ज्ञान गुरु की ओर से ही न मिल पाने के कारण उसका प्रणाम प्रदर्शन मात्र रह जाता है। उसका साधुवेश भी एक प्रदर्शन मात्र रह जाता है। कल्पित अक्षर ब्रह्म वेदमार्ग से उसे बहुत दूर फेंक चुका होता है। वेद से हट कर सोचना और अच्छी सी चेष्टा भी सर्वसम्मत अमंगलमय होती है। स्वामिनारायण ने वेदादि शास्त्रों की दुहाई बहुत बार दी है, उनके चेले भी स्वयम् को वेदमार्गी कहते हैं किंतु विष्णु भक्ति के अभाव में इनकी सद्गति की संभावना बिल्कुल नहीं है। ये तो स्वयम् को वैष्णव कहने में भी अपना अपमान मानते हैं। जीवित अवस्था में ही विष्णु लोक से बहुत ऊपर अक्षरधाम में स्वयम् को विराजमान और मुक्त मानते हैं। इससे बड़ी बिडम्बना मानव जीवन की और क्या होगी। नारायण पुरुषोत्तम आदि शब्दों का सहारा लेते रहना, ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाना, लोगों को धोखे में रखने के लिए श्रीमद्भागवत की कथा भी कहते सुनते रहना, उसके माध्यम से स्वामिनारायण को ही सर्वोपरि ठहराने की कुचेष्टाएं मंद समाज में करते रहना यानी विष्णुपरक ग्रंथ से ही विष्णु को नीचा ठहराना यही सब व्यापार शिक्षित इन नये साधुओं की पहचान है जो इन्होंने स्वयम् अंध श्रद्धा से बना रखी है। समाज को गुमराह करने वाले ऐतिहासिक महानों में स्वामिनारायण का सर्वोच्च स्थान है। उनकी बनायी गुमराही भावी सारे दम्भियों के लिए सादर अनुकरणीय है।

जब ये भगवान विष्णु को जीव की ही तरह मायाबद्ध द्:खी और मुमुक्षु ठहराने के लिए मायावादियों के कल्पित ईश्वर से अभिन्न घोषित करते हैं तब दम्भ दावानल निर्दग्ध इनकी सत्प्रज्ञा पर तरस आती है और इनके गुरु के लिए देय बलि की तलाश होने लगती है। मालुम होता है कि स्वामिनारायण ने मिलते रहे संतों को घोर संसार की तरह ही वर्जनीय माना था। अनन्त आकाश में फैले श्याम घन घटा के असीम विस्तार की तरह सर्वत्र सुलभ विपुल रसमय रमणीय गम्भीर वैष्णव वाङ्मय जो कि देश की अधिकांश भाषाओं में उपलब्ध है इसकी उपेक्षा और पाखण्ड मत पर श्रद्धा अनादि दुर्वार

पाप वासना का ही फल होता है। ये साधु दूसरे मत के संतों विद्वानों देवताओं और ब्राह्मणों का अपने गुरु की आज्ञा से जो समुचित सम्मान देते हैं वह अपनी निरूढ़ अशिष्टता पर फर्जी शिष्टता का एक झीना पर्दा मात्र होता है। प्रामाणिक देशव्यापी मंगलमय वैष्णवता के विपरीत मिथ्या धारणा बनाना और फैलाना मानवता का और धर्म का खुला द्रोह है।

अक्षर ब्रह्म की पैशाची वृत्ति

भारत वर्ष साधुओं का भी देश कहा जाता हैं यहां बहुत से सम्प्रदाय और पन्थ वाले साधु बनते रहते हैं। प्रत्येक साधु परमार्थ पथ की साधना में औरों से आगे समझा जाता है। यदि वह स्वयम् भी अपने को साधना में आगे समझने लगता है तो या किसी पद के मद से उसमें पूर्व पापों के फलस्वरूप भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में निर्दिष्ट अमानित्व आदि बीस गुणों के विपरीत मान दम्भ आदि बीस दोषों का विकास होने लगता है तब यदि उसके सम्प्रदाय का कोई उत्तम उद्देश्य भी हो तो वह विफल हो जाता है। अपने महान् उद्देश्य को विफल कर रहे बहुत से महनीय साधु देश में उपलब्ध हैं। किंतु देश में ऐसे ज्यादा ही सम्प्रदाय हैं जो मानवीय गुणों को दबाकर बुराइयां बढ़ा रहे हैं। सम्प्रदाय प्रवर्तक यह नहीं समझ पाते कि हम मानव को जो इच्छाइयां देना चाहते हैं वे तर्क प्रमाणों की छननी से ठीक से छनी न होने से बुराइयों से मिलीजुली हैं और मानव के मन-मस्तिष्क में पहुंचकर सुधार के बजाय विकार ही बढ़ाएंगी। मानवता निसर्ग से ही अहम् मम के दोषों से ग्रस्त रहती है तब सम्प्रदाय में भी यदि इन दोषों को बढ़ाने वाले तत्त्व गुप्त या प्रकट रहते हों तो मानव और भी बिगड़ जाता है।

यहां स्वामिनारायण की नयी खोज अक्षर ब्रह्म से उनके चेलों के चित्त में पड़ रहे अभद्र भावों का निरूपण संगत है। इसके लिए उनके द्वारा एकत्रित पांच तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। जीव, ईश्वर, माया, अक्षर ब्रह्म और पर ब्रह्म ये पांच शब्द वेदादि शास्त्रों और सम्प्रदायों की पुस्तकों से उन्होंने संकलित किए हैं, किंतु इनके अर्थ में मनमानी की है। स्वामिनारायण को प्रमाण सरणियों का पता नहीं था न उनकी जानकारी की कोई रुचि थी, इससे अर्थों में मनमानी

करने के सिवा उनके पास कोई चारा नहीं था। अर्थों के बारे में उन्होंने अपने चेलों से समाधि, स्वानुभव और शपथ की बात की हैं। चेले उनकी बातें उनके शपथ से डरते हुए मानते आ रहे हैं। किंतु प्रमाणों के अधिकार क्षेत्र में शपथ नहीं चलता। शपथ से आत्मा या परमात्मा को चाक्षुष द्रव्य नहीं माना जा सकता। परमात्मा को साकार ठहराकर भी उसे चाक्षुष नहीं माना जा सकता। श्वेत द्वीप आदि वैकुण्ठ आदि लोक न तो चाक्षुष हैं न संसारियों के ध्यान में आने वाले हैं। वे तो केवल शब्दप्रमाणगम्य हैं। उन्हीं के बारे में स्वामिनारायण ने स्वानुभव, अपने साक्षात्कार और शपथ को प्रमाण बनाना चाहा है। किन्तु कर्माधीन अन्तःकरण वृत्ति को स्वानुभव कहते हैं। व्यक्तिगत होने से वह दूसरों के लिए प्रमाण नहीं होता। प्रत्यक्ष योग्य अर्थ का सन्निकर्ष साक्षात्कार कहा जाता है यह योगज भी होता है, योगज साक्षात्कार केवल उस योगी के लिए प्रमाण हो सकता है, दूसरे तो उसे शब्द प्रमाण से ही पकड़ेंगे। प्रमाण के बिना शपथ मात्र से अर्थ की सिद्धि नहीं होती। शपथ से कोई सिरदर्द की दवा ले सकता है किंतु इससे उसका दर्द प्रमाणित नहीं हो जाता। वह तो पीड़ाकारक असामान्य अवस्था प्रमाणित होने पर ही अनुमान से होता है।

स्वामिनारायण ने जो पांच शब्द संकलित किए हैं उन पर किसी को कोई आपत्ति नहीं है किंतु उनके जो जो रूप चेलों को पढ़ाए हैं उन पर दूसरों को आपत्ति इसलिए है कि इससे उनके चेले मानवता विरोधी भी आचरण करते रहते हैं। अप्रामाणिक अर्थ पढ़ा कर समाज को धर्मविरोधी गतिविधियों में लगा देना और ऊपर से उन्हें धर्म घोषित करते रहना एक असामान्य अपराध है। इससे स्वामिनारायण के उक्त पांच तत्त्वों पर तत्परता से निर्णय लेना आवश्यक है।

बहुत खेद की बात है कि विष्णुभक्तों की चिर संगति पाकर भी, स्वामिनारायण स्वयम् संकलित पांच तत्त्वों की मौलिकता घोषित करते हुए भी, मायावादियों की एकात्मवादी दृष्टि से स्वयम् को नहीं उबार सके और न ही तत्त्वों की प्रस्तुति में कभी शास्त्रीय शैली अपना सके। इससे इनका वचन संग्रह केवल शिक्षाहीनों का सम्बल बनकर रह गया। वह शास्त्र रसिकों का कण्ठहार कभी नहीं बन सकता। उससे आत्म कल्याण की दिशा में कुछ साधु आगे बढ़ सकें यह तो सम्भव है किंतु आगे ठोकर और अन्धेरा होने से प्रगति बाधित ही होगी। यह सूक्ति देखिए–

पापैः पुराणैः परिवेष्टितस्य खलस्य संगेऽपि सतां न भंगः।
मोहस्य लोभस्य च, काममास्ताम् मुखेऽस्य सच्छास्त्रगिराम्प्रसंगः॥

यह स्वाभाविक है कि कोई भी जन्तु अपने व्यक्तिगत या जातीय संस्कारों से जो भी सोचा करता है उसी में उसे कुशलता और सफलता मिलती है, दूसरे पक्षों में वह एकदम अकुशल और विफल ही रहता है। बंदर, मकड़ी और कोशकीट इसके अच्छे उदाहरण हैं। ये थोड़ी सी माया तो जानते हैं पर आत्मरक्षा में अत्यन्त अनिपुण होते हैं।

स्वामिनारायण को गुजरात में भगवान् बनकर पाषाण बन कर और सोना–चान्दी बनकर बैठना था, यही इनकी नियति थी, जन्म से इन्होंने यही सोचा, चाहा और किया। अपने उद्देश्य में सफल भी हुए, सम्भव है कि कोई विघ्न न आया हो पर परलोक मार्ग इनका उनसे भी अधिक अंधकारमय रह गया जिनसे थोड़ा–थोड़ा सीखा और लिया। हर एक प्राणी का 'अहम्' उसके भविष्य का घोर अंधकार हुआ करता है। **'अहम् ब्रह्म अस्मि'** की निरर्गल भावना स्वामिनारायण में दूसरों से ज्यादा ही थी, क्योंकि इन्होंने दृश्य जगत् को मिथ्या नहीं माना इससे इनका 'अहम्' ज्यादा ही कठोर हुआ होगा। **'अहम् ब्रह्म अस्मि'** का श्रौत तात्पर्य जो लोग जानते थे वे इन्हें या तो मिले ही नहीं या मिले भी होंगे तो तत्परता से सम्भाषण नहीं हो पाया होगा। जिसके वचनों में बार–बार त्रुटियां झलक रही हों उसे सौ बार भी भगवान् घोषित करने से त्रुटियां नहीं मिटतीं और संसारीपना नहीं छिपता।

मायावादियों की विज्ञानवादी बौद्धछाया में बैठकर इन्होंने सीख लिया कि जीव और ईश्वर माया के योग से बनते हैं। इस तरह अपने चेलों को गीता और उपनिषद् समझने का मार्ग स्वयम् बंद कर दिया। फिर यह भी घोषित किया कि पांचों तत्त्व अनादिकाल से भिन्न हैं और ये कभी एक नहीं हो सकते। इस तरह इन्होंने अर्थ तो लिए अद्वैतवाद के हाथों से और फैसला सुनाया द्वैतवादी। फिर **'मतं विशिष्टाद्वैतम्मे'** कह कर श्री वैष्णवों के चरण चंचरीक बन गए। **'श्रीकृष्णः शरणम्मम'** जप कर बल्लभ के वल्लभ हो गए। शिव की नराकार मूर्ति स्थापित कर शिवभक्त भी कहलाए। हनुमान और गणेश को एकत्र द्वारपाल बना दिया और स्वयम् पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम बन कर सर्वोपरि कहलाए।

अस्तु, तीसरे तत्त्व के रूप में इन्होंने जो माया पदार्थ स्वीकृत किया उसे मायावादियों की तरह मिथ्या, अनिर्वचनीय या ज्ञानबाध्य नहीं कहा बल्कि यह समझाया कि मायाग्रस्त जीव को गुरु अपने सत्य संकल्प से और उपदेशों से अक्षर ब्रह्म बना देता है। अक्षर ब्रह्म का पता इन्होंने इसी काम के लिए लगाया है। अक्षर ब्रह्म तक माया की पहुंच नहीं है इससे इनका बनाया साधु माया से स्वतः मुक्त रहता है और अक्षर ब्रह्म चूंकि नित्य साकार परब्रह्म की सेवा पूजा ही करता है, दूसरा उस का कोई काम नहीं है। इससे परब्रह्म की सेवा पूजा में लगे रहना ही सही मुक्ति है, ऐसा वर्तमान अक्षरब्रह्म प्रमुख स्वामी का कहना है। स्वामिनारायण का भाव इनसे ज्यादा कौन समझता होगा। चूंकि परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण साकार हैं, उनकी सेवा पूजा शरीरधारी ही कर सकते हैं। इससे अक्षर ब्रह्म से एक हुए सारे साधु जीवित अवस्था की तरह ही गैरिक वस्त्र में गुजराती पगड़ी बांधे अपने सेव्य परब्रह्म के समीप शरीर के त्याग के बाद भी बने रहते हैं। इतनी सुंदर मुक्ति यहीं मिलती है।

इनका माना हुआ चौथा तत्त्व अक्षर ब्रह्म उतना ही सत्य है जितना इनका वेदान्तज्ञान। इनका वेदान्त समझ रहे अनेक साधुओं ने इस तत्त्व को प्रतिष्ठित करने के लिए अपनी वाणी को बहुत नचाया है किंतु इनकी वाणी को नाचना आता ही नहीं इससे बहुत सारे पत्थरों के इकट्ठा होने पर भी, कई करोड़ धन लग जाने पर भी यह चमकीली चौथी मूर्ति अप्रतिष्ठित ही रह गई।

अब पंचम अन्यथा सिद्ध अक्षरातीत नित्य साकार द्विभुज पर ब्रह्म स्वामिनारायण की प्रतिष्ठा का दर्शन करिए। स्वयं को सर्वोपरि तत्त्व परमात्मा के रूप में पुजवाना इस व्यक्ति का लक्ष्य उस समय से बन गया जब किसी दैव आवेश के कारण या पिछले जन्म की साधनाओं के कारण या गुजरातियों के अन्धकारमय भविष्य के कारण या मिले जुले उक्त तीनों कारणों से कुछ चमत्कार देखने को मिले और समाज इसे श्रद्धा से भगवान् मानकर पूजने लगा। जब समाज स्वयम् को भगवान् मान ही रहा है तो मैं खुद को जीव कहकर क्यों नीचे गिराऊं ऐसा सोच इसका बन गया। स्वार्थान्ध व्यक्ति ऐसा सोचे यह स्वाभाविक है। इसे अपने भाइयों की सन्तान की जीविका की भी चिंता थी इससे उन्हें फर्जी तरीके से गोद लेकर उन्हें अपना पुत्र और उत्तराधिकारी

बनाया और साधु बनाने का दायित्व शिक्षा पत्री में उन्हीं को सौंपा। स्वयम् को पूर्ण ब्रह्म परमात्मा बनाने के लिए इसने कई तिकड़म भिड़ाए। उनमें परब्रह्म का आश्रय और सहज सेवक एक अक्षर ब्रह्म की कल्पना की और आगे चलकर एक प्रतिभाशाली व्यक्ति को साधु बना कर उसे अक्षर ब्रह्म का अवतार घोषित कर दिया। अब एक की जगह दो ब्रह्म हो गए। यह दूसरा ब्रह्म परब्रह्म का आश्रय सेवक और नित्य भक्त माना गया। इसने सत्त्व आदि गुणों से अछूता होने से गुणातीतानन्द नाम गुरु परब्रह्म के द्वारा प्राप्त किया। दोनों के बहुत से पार्षद हुए। ये सब मठ के बड़े-बड़े पदाधिकारी हुए। अधिकार संभालने के लिए जिसे जो कहा गया वह वही बनकर रहने लगा। आज भी ऊंचे पदाधिकारी ही कुछ कुछ समझते और बोलते लिखते हैं। ये वही बोलते लिखते हैं जिससे अपना पद सुरक्षित रहे। देश के अधिकांश सम्प्रदाय परमार्थ पर नहीं किंतु अर्थ पर टिके हैं। इससे अस्तित्व मात्र से उन्हें परमार्थिक नहीं कहा जा सकता। परमार्थ कहीं बंधता नहीं। वह तो सदन कसाई के हाथों में भी खेलता है और बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी उनकी भूल पर नीचे ढकेल देता है।

स्वयम् भगवान् बने इस व्यक्ति पर बहुत से प्रश्न उठते रहे, उन प्रश्नों का संतोषजनक समाधान यह नहीं कर पाया। अब के साधु भी नहीं कर पा रहे। एक प्रश्न है कि सर्वावतारी सबसे श्रेष्ठ महान् तत्त्व का अवतार प्रसिद्ध चौबीस अवतारों में प्रथम मध्य या अंत में भी क्यों नहीं गिना गया। यदि कोई कहे कि वेद व्यास जी को पता नहीं था तो उनकी तपोमयी दृष्टि में इतनी बड़ी त्रुटि क्यों आ गई?

दूसरा प्रश्न है कि आप ही आप टपक पड़े अपने इस भगवान् को साधु लोग परिगणित चौबीस में से प्रज्ञा या पौरुष की दृष्टि से किससे उत्तम मानते हैं। यदि कोई कहे कि हम तो उन्हें सबसे उत्तम मानते हैं तो यह मान्यता तो आपकी अपने गुरु के वचन मात्र से बनी है, आप तुलना करके क्यों नहीं बोलते कि हमारे गुरु अमुक अवतार से अधिक सक्षम थे। यदि कहें कि मोक्ष यही देते हैं, दूसरे अवतारों से इसका भरोसा नहीं है, तब तो इनके जन्म से पहले किसी को मोक्ष नहीं मिला होगा? तब शुक वामदेवादि की मुक्ति की चर्चा शास्त्रों में क्यों है?

तीसरा प्रश्न है कि आपके स्वामिनारायण की मूर्ति जहां प्रतिष्ठित

होती है वहां अक्षर ब्रह्म का मध्य भाग रहता है, यह आप मानते हैं, सो ठीक है, आप कृपया अक्षर ब्रह्म का चित्र बनाकर उनके सामने का या पृष्ठ भाग का जो बिंदु प्रतिष्ठा का स्थान होता है वह निर्देशित करें। फिर आपके स्वामिनारायण को ही यह अक्षर याद आया, अन्य विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य, गणेश, हनुमान आदि को नहीं, इसके पीछे क्या कारण है, समझकर बताइए।

चौथा प्रश्न है कि आपके गुरु भगवान् ने दस वर्ष की उम्र में ही काशी में शास्त्रार्थ में सारे पण्डितों को पराजित करके अपने पंचतत्त्व वाद की स्थापना की थी, यह आप रटते हैं। पर यह बताइए कि काशी विजय के बाद उन्होंने ऐसा क्या खा लिया जिससे सारा शास्त्र ज्ञान उनका रफूचक्कर हो गया। जिससे वचनामृत में उनका अज्ञान पद पद पर लक्षित होता है। गुजराती साधु न समझ पाये हों यह हो सकता है पर सारा देश तो अज्ञानी नहीं हो गया है। व्याकरण न्याय वेदान्त सांख्य योग और पुराणों में भी कहीं भी तो उनकी तलस्पर्शी योग्यता या कुशलता लक्षित नहीं होती, बल्कि पग पग पर उनका अज्ञान ही खुलता रहता है। कोई साधु व्यक्ति किसी प्रौढ़ पंडित के चरणों में बैठकर भले ही अपने सारे दोष मिटा ले किन्तु जो व्यक्ति साधु न होकर चोर हो वह तो सत्संग में भी भाव की चोरी ही करता रहेगा। आपके सर्वावतारी के वचनों में गीता जैसी मौलिकता लक्षित नहीं होती इससे एवम् उन्होंने स्वयं किसी को निष्ठा से गुरु नहीं माना इससे उनके शील में बहुतों को सन्देह होता है, भक्त जन समाधान करेंगे।

आगे प्रश्न है कि ज्ञान न होते हुए भी ज्ञान का केवल दम्भ भर रहे अपने गुरु भगवान् के वचन मात्र से सर्वशास्त्र सिद्ध लक्ष्मी नारायण, नर नारायण, श्री राम कृष्ण आदि की मूर्तियां फीकी बनवाकर दूर रखकर मध्य मंदिर में जिस प्रमादी मानव की स्वर्ण मूर्ति बनाकर आप पूज रहे हैं, उससे आपको परम कल्याण की संभावना कैसे होती है? और आप इस शास्त्रविरुद्ध पूजा को मोक्षदायक परमतत्त्व का अपराध क्यों नहीं समझ पाते? आपको तो आज से बहुत पहले यह समझ लेना था कि कल्पित अक्षर ब्रह्म को गुणातीत कहकर उसे ब्रह्मादि त्रिमूर्तियों से ऊपर कहते हुए हमारी उससे एकात्मता की अफीम खिलाकर गुरु बनकर कोई हमें ठग ले गया। उसकी सारी सिद्धियां हमारे अंतिम पतन का एकमात्र कारण बन गयीं।

आगे आप जानते हैं कि नर नारायण अवतार भगवान् विष्णु के हैं। सारे अवतार भगवान् विष्णु के ही हैं। केवल आपके स्वामिनारायण उनके अवतार नहीं हैं वे तो अक्षरातीत परब्रह्म के यानी अवतारों के मूल रूप के अवतार हैं। सो ठीक है किंतु आपके घर की मान्यता है कि दुर्वासा ऋषि ने नर नारायण को मनुष्य होने का शाप दिया था, इससे आपके सर्वावतारी मनुष्य हो गए। ऐसा कैसे हुआ? जिसे शाप मिलता है वही भोगता है। शाप मिले सिपाही को और फल भोगे राजा। यह तो अटपटी बात मालुम होती है। शुद्ध सत्त्वमय एवं सर्वलोक कल्याण हेतु चिरकाल से तपोनिष्ठ नारायण ऋषि के आश्रम के निकट पहुंच कर भी दुर्वासा की बुद्धि सात्त्विक नहीं हो सकी और विश्वाराध्य को उन्होंने शाप दे दिया यह एक असमंजस कल्पना है। दुर्वासा को तो विष्णुभक्तों का भी महाप्रभाव राजा अम्बरीष से ही ठीक से समझ में आ गया था। तब भगवान विष्णु को शाप देने का साहस कैसे हो गया? फिर अवतार के शाप की प्रयोजक यह महत्त्वपूर्ण कथा पुराण इतिहास ग्रंथों में क्यों नहीं आई? झूठ कभी सत्य का रूप नहीं ले पाता। **'न मिथ्या सत्यत्वम् भजति वितथोपायशतकैः'** जब मनुष्य बनने का शाप भगवान विष्णु के अवतार नर नारायण ऋषि को मिला तो वह विष्णु से ऊपर गुणातीत अक्षर ब्रह्म से भी परे परब्रह्म को कैसे लग गया? शाप अनुग्रह और उसकी प्रतिक्रिया गुणों से होती हैं गुणातीत से भी परे परब्रह्म में वह संभव नहीं था।

साधु रामानन्द को उद्धव का अवतार कहते हैं। यह कल्पना भी असमंजस है। वे उद्धव होते तो कृष्ण भक्त होते और कृष्णानन्द नाम रखते। रामानन्द नाम तो शांकर दसनामियों की नकल पर रखा गया है। कृष्णभक्त ऐसा पथभ्रष्ट क्यों होगा। इससे इस अनोखे सम्प्रदाय वालों को अपना सम्बन्ध उद्धव जी से आधे मन से भी नहीं जोड़ना चाहिए। गुरु भगवान् स्वामिनारायण ने स्वयं को दूसरों से आधे-आधे मन से ही जोड़ा और तोड़ते गए। इससे इन्हें शास्त्रों का रहस्य कहीं नहीं मिला। फलतः इनका सम्प्रदाय सब ओर से दिङ्मूढ रह गया। इनके यहां न तो कोई मंत्र है न मंत्रार्थ है, न स्वरूपबोध है, न कोई ठोस कर्तव्य है, बंधन क्या है, मोक्ष क्या है, मोक्ष का उपाय क्या है यह निर्णय भी परंपरागत किसी स्रोत से प्राप्त नहीं कर सके हैं। कल्पना के अक्षर ब्रह्म पर कृत्रिम ये सभी साधु भूले जा रहे हैं। स्वयम् अक्षर

ब्रह्म बनकर किसी का अभिवादन नहीं करते। प्राणी मात्र पर भगवद् दृष्टि इन्हें नहीं प्राप्त होती। बल्कि स्वयम् को ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि से ऊपर सबका पूज्य माना करते हैं। यदि ये किसी को कुछ सम्मान देते हैं तो वह परमार्थ से हट कर केवल औपचारिक रहता है। इनका कल्पित अक्षर ब्रह्म परब्रह्म को संसारी चेतनों से जुड़ने में बाधक होता है। सर्वत्र भगवद् बुद्धि इन्हें होती ही नहीं।

स्वामिनारायण अपने आप पर ब्रह्म पुरुषोत्तम नहीं हो गए। इन्हें बनाया है भक्तों और चेलों ने। इन्होंने समझाया कि गुरु की पूजा भगवान की तरह ही करनी चाहिए। गुरु को भगवान् मानने का विधान शास्त्रों में है ही। किंतु कहीं भी यह नहीं लिखा है कि गुरु जिस देव प्रतिमा की पूजा करते हैं उसे छोटा बनाकर गुरु के बगल में रख दें। आज के साधु यह सोचने, बोलने और लिखने लगे हैं कि हमारे गुरु भगवान ने दूसरे किसी की पूजा नहीं की, न मंत्र जपा, न प्रणाम किया, क्योंकि वह तो सर्वोपरि थे। उन्हें यह सोचना चाहिए कि उनके गुरु भगवान् अपने शिष्यों और भक्तों को मुक्ति के लिए आवश्यक बहुत सी जानकारियां दिए बिना ही अपने ब्रह्म पुर को पधार गए। साथ ही यह भी पढ़ा गए कि दूसरे किसी की न मानना, न सुनना। इससे साधु लोग वचनामृत का पाठ चाहे जितना कर लें या 'स्वामिनारायण' षाडक्षर मंत्र का जप जितना भी कर लें पर इनके मोक्षमार्ग में कोई प्रकाश स्तम्भ शुरू से ही न होने से प्रगति असंभव है। बड़ताल में सम्प्रदायनिष्ठ उच्चस्तरीय विद्वान रह रहे थे। उन्हें **'मतं विशिष्टाद्वैतम्मे'** इस दम्भमय वचन से एवम् अर्थलाभ का भरोसा देकर रखा गया था। उनसे कभी भी अपने गुरु भगवान् के अमृत वचनों का स्पष्टीकरण नहीं चाहा गया।

आज भी यही स्थिति है, मुसलमान जैसे दूसरों से अपनी दूरी बनाए रखना जरूरी समझते हैं, अपने परंपरागत अज्ञान का निवारण वे नहीं चाहते, क्योंकि वह अज्ञान ही उनका इस्लाम होता है। वैसी ही मनोवृत्ति इनकी भी स्पष्ट लक्षित होती है। ये वेदादि शास्त्रों की दुहाई दे देकर स्वयं को हिंदूधर्मनिष्ठ ठहराना चाहते हैं, पर ग्रंथों के सही अर्थ से स्वयं को दूर रखना ही हित मानते हैं। ऐसा लगता है कि किसी को गुरु न मिले तो उतनी हानि नहीं है, वह अपने विवेक से काम लेगा किंतु यदि कोई परम श्रद्धेय दम्भी गुरु मिल जाए तो अगले

जन्म के लिए भी धोखा सुरक्षित रह जाता है। वचनामृत देखने से ही ऐसा लगता है कि इस गुरु भगवान् ने अपने शिष्यों का चित्त कभी भी तत्त्वों पर उतारना नहीं चाहा बल्कि तत्त्व से दूर-दूर ही घुमाते रहे। मजे की बात तो यह है कि तब से आज तक ये गुर्जर साधु गुरु के अनर्गल वचनों से ही मोक्ष, उसका स्वरूप और उपाय समझे बैठे हैं। आत्मस्वरूप का ज्ञान अलग से अर्जित करने की इन्हें इच्छा ही नहीं हुई। स्वरूप का बोध होने से पहले बंध, मोक्ष, उपाय और फल कुछ भी समझ में नहीं आता। घुमन्तु गुरु पर ज्यादा विश्वास करके उसे ही भगवान् मानकर जब से ये पूजने लगे तब से धर्म और मोक्ष मार्ग से दूर हो गए। साधु या संत वे ही कहे जाते हैं जो ब्रह्म स्वरूप पर यथार्थ ज्ञान अर्जित कर लेते हैं। वेशमात्र से कोई साधु नहीं होता।

शठ को ही गुरु बना लिया यह बुरा नहीं है,
सज्जन कोई मिला नहीं यह बुरा नहीं है।
किंतु बुराई सच्चाई की करते रहना,
सत्पथ से मुख फेरे रहना बहुत बुरा है॥
असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

यदि स्वामिनारायण ही परब्रह्म परमात्मा हैं तब तो उनके जन्म से पहले किसी को ब्रह्मज्ञान नहीं था न किसी को मोक्ष हुआ था। तब अपना भी क्या भरोसा है। यह स्थूल बात भी स्थूल पगड़ीधारी साधु न समझ पाये यह आश्चर्य है।

यहां तक स्वामिनारायण की प्रतिष्ठा और पूजा का महत्त्व और फल बहुत कुछ समझ में आ गया होगा। पर एक महत्त्व की बात यहां पर ध्यान रखने योग्य है कि पृथ्वी पर यही पहला मानव आया था जिसने स्वयम् भगवान् बनकर जिस समय पूजा प्राप्त की, उसी समय स्वयम् अपनी मूर्ति की विशाल मंदिर में प्रतिष्ठा करा कर भी पूजा जाने लगा। साथ ही **'अवतारिणे स्वामिनारायणाय स्वाहा'** कहला कर देव बन कर आहुतियां भी जारी कराईं।

आगे गुर्जर साधु यह जानते होंगे कि स्वामिनारायण ने अपनी मूर्तियों में अपने समक्ष अपनी प्रतिष्ठा किन मंत्रों से किन ब्रह्वेत्ताओं के द्वारा करायी थी। वे यह भी जानते होंगे कि आहुतियां पहुंचाना केवल अग्नि देवता का काम है, वे आहुतियां लेकर स्वामिनारायण के

ब्रह्मपुर तक नहीं जा पाएंगे। उनकी गति ब्रह्माण्ड के अंदर ही सीमित है। ऐसी स्थिति में उनके नाम पर डाली गयी आहुतियों का क्या होता है। यदि कोई कहे कि वे सर्वव्यापक हैं इससे कहीं भी अपना भाग ले सकते हैं तब तो अवतार के बिना ही केवल अंतर्यामी रूप से गुजरातियों को तत्त्व बोध दे सकते थे। अविद्या की वृद्धि नियंत्रण और नाश वे संकल्पमात्र से कर सकते हैं। फिर जीवों की अविद्या कर्माधीन होती है उसे वे अपनी वाणी मात्र से नष्ट नहीं कर सकते। उनकी दया का इतना बल कभी भी कहीं नहीं देखा गया है कि कर्मों को दबाकर तत्त्व दर्शन करा दे। अन्यथा उनके परमभक्त नारद जी को मोह क्यों होता। जय-विजय को तीन बार जन्म क्यों लेना पड़ता। विभीषण को कल्पान्त तक राक्षसराज बने रहने का समय क्यों दिया गया है। ध्रुव को तत्काल मुक्ति क्यों नहीं मिली। प्रह्लाद ने मोक्ष क्यों नहीं लिया। ये नराकार स्वामिनारायण वेदादि शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान अर्जित किए बिना गुजरातियों के लिए अपनी दया का कौन सा उपहार लिए घूम-घूमकर वचनामृत बिखेर रहे थे। उनको और उनके चेलों को क्या कभी पता चला है कि फर्जी भगवान् स्वामिनारायण को गुजरात में बैठाने के लिए कितने वेदादि शास्त्र वचनों की घोर उपेक्षा करनी पड़ी है? और इससे गुजरातियों का कितना प्रतिशत हित हुआ है?

उन्होंने स्वयम् को बहुत बार भगवान् कहा है और गुजरातियों ने सुना है, स्वयम् को भगवान् लिख कर भी दिया है और गुजरातियों ने पढ़ा है किंतु स्वामिनारायण के परमात्मा होने की बात तनिक भी पुष्ट नहीं होती। वचनामृत के संदर्भों से इनकी स्थूलदर्शिता का मार्जन भी नहीं हो पाता। चूंकि परमात्मा सर्वान्तर्यामी होने से सारी जड़जंगम मूर्तियों में पूजे जा रहे हैं इससे कोई किसी को भगवान् मानकर उसे या उसकी मूर्ति को पूजता रहे तो किसी को क्या आपत्ति होगी? यह अलग बात है किंतु इतने से आस्तिकता नहीं आती, आस्तिक तो वह होता है जो कहीं भी महज जड़ता नहीं देख पाता। फलतः सर्वत्र आदर भाव ही रखता है। आदर भाव गुणों की परख को दबाता नहीं बल्कि उसी से आदर की पुष्टि होती है। स्वामिनारायण में सहज सम्मोहन था यह तो सर्वसम्मत है किंतु वे तत्त्वदर्शी या तत्त्वनिष्ठ थे, यह उनके वचनों से सिद्ध नहीं होता। बल्कि उनका सम्मोहन उनके दम्भ का सहायक था यह प्रमाणित होता है। अपने द्विभुज मानव शरीर को

परमपद ब्रह्मपुर का अधिष्ठाता घोषित करना, उसे दिव्य कहना, अपनी पूजा के लिए अपनी मूर्ति अपने ही हाथों से स्थापित करना, कपोल कल्पित अक्षर ब्रह्म की पूजा जारी कराना, सर्वत्र उदाहरण योग्य दम्भ है।

वचनामृत की कुंजी

इनके प्रसिद्ध 262 वचनों का संग्रह इनकी आज्ञा से इनके गोपालानन्द आदि चार शिष्यों ने किया है। उस संग्रह से बाहर भी ग्यारह वचन बाद में मिले हैं। उनका संकलन बाद में दूसरों ने किया था जो अब पूर्व संग्रह के साथ ही प्रकाशित होते हैं। ये ग्यारहों वचन अंतिम वचन की तिथि 25 जुलाई 1828 से बहुत पहले के हैं। संभव है कि ये ग्यारह वचन कुछ विरोधाभासी होने से उक्त शिष्यों द्वारा छांट दिए गए हों और बाद में विरोध की परवाह न होने से प्रकाशित किए गए हों। अभी मुझे 14 अप्रैल सन् 1828 के ग्यारहवें छटे वचन के संबंध में समझना है। इस वचन के उपसंहार में लिखा है कि श्री जी महाराज के वचन के उपसंहार के समय भक्तों को आकाश में एक विशाल तेजोमण्डल दिखाई पड़ा, वह बाद में तीन गोले बनकर छत पर कुछ देर रुका रहा, बाद में वह लुप्त हो गया। तब भक्तों ने श्री जी से पूछा कि महाराज यह क्या था? तब श्री जी बोले कि मेरे और संतों की इस सभा के दर्शन के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्रतिदिन आते थे, किंतु आज तो हरि जी की इच्छा से आपको विमान सहित दिखाई भी पड़ गए।

यह उस प्रकरण का अंतिम वचन है और ग्रंथ भी यहीं समाप्त हुआ है। जो उनका भक्त यह सदर्भ पढ़ता होगा वह स्वयम् को सारे देवताओं का दर्शनीय मानता होगा और किसी भी इतर को अपने से अच्छा नहीं मानता होगा। अब वचनामृत ही एक ऐसा ग्रंथ बन गया है कि जिसके बांचने और विश्वास करने पर सारे देवता दर्शन को दौड़ पड़ते हैं। क्योंकि यह अक्षरातीत परब्रह्म पुरुषोत्तम की वाणी है। अन्य वेदादि ग्रंथ तो त्रिगुणात्मक देवताओं की वाणी हैं।

असम्भवं न वक्तव्यम् प्रत्यक्षं यदि दृश्यते।
शिला तरति पानीयं गीतं गायन्ति वानरा:॥

यदि त्रिदेव सचमुच आते थे, आए थे और दीख भी पड़े तो स्वामिनारायण को यह रहस्य गुप्त ही रखना था क्योंकि यह एक

असंभव बात है, विश्वास योग्य नहीं है। यदि श्रद्धा से विश्वास होता भी है तो वह त्रिदेवों के प्रति हीनता का भाव बनाता है इससे त्याज्य है। कोई भी साधु जब भी स्वयम् को विश्व के रक्षक विष्णु से उत्तम मानेगा तो उसका मानस व्यतिक्रम उसका पतन ही कराएगा। वास्तव में विष्णु से ऊपर कोई सत्ता नहीं है। उनका कोई दर्शनीय नहीं होता। उनसे ऊपर की सत्ता सोचने वाले न तो शब्दार्थ समझते हैं, न शास्त्रार्थ। पतितों से कुछ कुछ सीख कर गुजरात में कोई गुरु और भगवान् बन जाए यह तो संभव है, किन्तु वह शास्त्रों से कोई नया अर्थ नए मंदिर की तरह सिद्ध नहीं कर सकता। उक्त घटना से उनका भारी दम्भ और चेलों की जड़ता प्रमाणित होती है। उनका पंच तत्त्व वाद यदि केवल बकवास नहीं है तो कोई संस्कृत में लक्षण सहित सप्रमाण प्रदर्शित करे।

इनके पांच तत्त्व

ब्रह्मविद्या की गंभीरता से जब गुरु भगवान् ही अपरिचित रहे तो चेलों और भक्तों का क्या कहना है। वे तो अपने भगवान् का सुना सुनाया गुणगान ही कर सकते हैं कि हमारे गुरु भगवान् ने दस वर्ष की उम्र में ही काशी के विद्वानों को शास्त्रार्थ में जीतकर अपना पंचतत्त्व वाद स्थापित कर लिया था। किंतु इससे तो यह भी सिद्ध होता है कि इनके गुरु भगवान् ने अपने शैशव के ज्ञान उपार्जन से ही सारा जीवन निभा दिया। उपार्जन बढ़ाने की चिंता उन्हें नहीं हुई। उन्होंने विद्वद्गोष्ठी बुलाकर कभी अपने पंच तत्त्वों पर चर्चा नहीं करायी। उन पर कभी प्रश्न उत्तर नहीं कराए। केवल मूढ़ चेलों को पढ़ाते रहे। जो भी उनके विद्वान शिष्य माने गए हैं उन्होंने भी तत्त्व विवेचन की शैली पर कहीं कुछ नहीं लिखा। जिस रीति से इस संप्रदाय के लोग सोचते बोलते हैं उस रीति से तो और भी बहुत से महत्त्व के तत्त्व मिल जाएंगे। जैसे 'मतं विशिष्टाद्वैतम्मे' कहने वाले स्वामिनारायण को यामुनाचार्य के स्तोत्र रत्न में 'गुणाः प्रधानम् पुरुषः परम् पदम् परात् परं ब्रह्म च ते विभूतयः' यह उक्ति नहीं मिली। यहां परात् पर ब्रह्म और उसके स्वामी ये दो और तत्त्व मिलते हैं। माया के भी बहुत से रूप हैं जिनका विवेचन के साथ तत्त्व रूप से स्वीकार आवश्यक था। जैसे अव्यक्त, मूल प्रकृति, प्रधान, महामाया और माया। माया वेदों में और आगमों में भी है। स्वामिनारायण को अपनी

मानी हुई माया में प्रमाण प्रस्तुत करना था। काल को इन्होंने गिना ही नहीं, जबकि यह परमात्मा की भव्य मूर्ति है। शिव को महाकाल कहते हैं। काल और महाकाल दो होते हैं। गीता में ईश्वर और परमेश्वर दोनों वर्णित हैं। इन्होंने परमेश्वर को भुला दिया जबकि यह सदा ध्यान में रखने योग्य वस्तु है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यःपश्यति स पश्यति॥

जो इसे भूलता है वह द्रष्टा नहीं हो सकता। इस तरह इस नये गुरु भगवान् को—जीव, ईश्वर, परमेश्वर, महामाया, माया, अव्यक्त, मूल प्रकृति, परब्रह्म, परात्पर ब्रह्म और उनके स्वामी, अक्षर ब्रह्म, काल और महाकाल ऐसे तेरह तत्त्व मानने चाहिए थे, इनमें एक भी मुमुक्षु को भूलने योग्य नहीं है। अब उनके चेले कहेंगे कि हमारे गुरुदेव ने नहीं कहा है इससे हम नहीं मानेंगे। सो ठीक है, प्रामाणिक बात माननी चाहिए। गुरु कहें या न कहें।

सद्गुरु कोई मिला नहीं, यह बुरा नहीं है,
सज्जन कोई मिल न सका, यह बुरा नहीं है।
किंतु बुराई सच्चाई की करते रहना,
सत्य मार्ग से फिरकर रहना, बहुत बुरा है।

***

उत्कर्ष या अपकर्ष

स्पर्धन्तां सह जन्मकुञ्जरतया दिक्कुञ्जरैः कुञ्जरा
ग्राम्या वा वनवासिनो मदजलप्रस्विन्नगण्डस्थलाः।
है! कालस्य विपर्ययं शृणु सखेऽमेध्यैकलिप्सुश्चरन्,
भीतो यो भषितैः शुनां स मलिनः कोलोऽपि संस्पर्धते॥

घोर अज्ञान से ही कोई क्षुद्र अति महानों से अपनी तुलना करने लगता है।

लघुनाऽऽननेन महतामवमानं कुरुते खलः प्रकृत्या,
अभिरौति सारमेयो गजपृष्ठस्थितमीश्वरं नराणाम्॥

खल बड़ी अच्छाई का भी विरोध अपने छोटे से भी मुंह से करता ही है।

मतंगजवराहयोमृगपतिशृगालोद्धयो-
र्मरालबकयोः पुनः परभृतस्य काकस्य वा।
नृणां नृपकिरातयोरथ यतेर्वणिक् श्रेष्ठिनो-
र्बुधा न तुलनां धिया विदधते भिदादर्शिनः॥

महान् भेदों को देख रहे विवेकी जन महानों के गुणों से अपनी क्षुद्रता की तुलना नहीं करते।

लंकामहासमरधीरबलीमुखानां साम्यं धियो जहि कपित्वकृतम्पशो! त्वम्।
भीतः शिलाशकलदर्शनतो गिरीन्द्रं धृत्वा कथं नभसि सञ्चरिताऽसि दूरम्॥

क्या आज के बंदर द्रोणाचल लिए आकाश में दौड़ रहे हनुमान जी से अपनी तुलना करने लगे हैं?

यत्राभवन्नगणिताः सुधियः श्रुतीनां चेतःप्रतोषणविधौ कुशला निसर्गात्।
श्रीमत्कृपासरसि तत्र वकस्तु चित्रं निष्कर्दमे बकबकेति विवक्ति धृष्टः॥

मानसरोवर की स्वच्छता मलिन बगुला क्या जाने?

श्रुतिसहस्रहस्यमनुत्तमं स्मृतिपुराणमहारसमुज्ज्वलम्।
सकलचेतनचित्तनियामकं न भजताम् भजताञ्च सदा हितम्॥
गुणसहस्रनिबद्धसुरासुरम् भजनिनां यमिनां हृदि भासुरम्।
कुपथकर्दमदिग्धपदेक्षणो न खलु रक्तपटः प्रतिपद्यते॥

शिशुशिक्षा ले रहा या दे रहा शिशु या शिक्षक वेदांत क्या समझें?

हम जिन भ्रान्तियों का वारण चाहते हैं उनके महा धनी संतवेषियों को अपने देश के आदर्श से प्रथम अवगत करा देना चाहते हैं। यह वही भारत देश है जहां शंकराचार्य से कुछ पहले उत्पन्न कुमारिल भट्ट एक महान् मेधावी, भारत राष्ट्र के प्रबल पक्षधर, कर्तव्यनिष्ठ विद्वान हो गए थे। उस समय सब ओर बौद्धमत फैला हुआ था, बौद्ध पण्डित प्रबल तर्कों से वेदों और वैदिक जीवन का निषेध कर रहे थे। उनके तर्कों का काट असम्भव हो गया था। उस समय उक्त कुमारिल भट्ट ने अपनी नयी उम्र में बौद्धों का शिष्यत्व स्वीकार किया और उनके तर्कों का रहस्य समझने में एक आस्थावान शिष्य जैसी तत्परता बनाए रहे। बाद में उनके सारे मर्म जानने पर उन्हें शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी और उन्हें बुरी तरह पराजित कर के अनादि वैदिक धर्म का विजय ध्वज सारे भारत देश में फैलाया। किंतु अपनी इस जीत से वे उतना प्रसन्न नहीं हुए, जितना देशवासी हुए। उन्हें अपनी जीत में

गुरुद्रोह का पाप खलने लगा, वे समझे कि प्रायश्चित्त किए बिना अनन्त काल तक नरक भोगना पड़ेगा। तब भूसे की आग में अपना जीवन होम कर देना ही उन्हें एकमात्र प्रायश्चित्त समझ में आया। इसके बाद उन्होंने स्वयं गड्ढा खोद कर उसमें भूसा भरकर उसके बीच में बैठ कर चारों ओर से उसमें आग लगा दी। भूसा जलने लगा किन्तु तब तक आग उनके शरीर तक पहुंच नहीं पाई थी। उसी समय आद्य शंकराचार्य शास्त्रार्थ के लिए उनके पास पहुंचे, तब कुमारिल भट्ट ने उन्हें कहा कि अब तो मैंने अपना जीवन अग्नि देवता को समर्पित कर दिया है, अब किसी भी काम के लिए यह वापस नहीं लिया जा सकता। शास्त्रार्थ के लिए आप मेरे शिष्य मण्डन मिश्र से मिल सकते हैं। तब आचार्य शंकर मण्डन मिश्र से मिले। यहां स्वामिनारायण के अनुचरों को समझना चाहिए कि हमारे गुरु भगवान् ने हमें कब वह सब धर्म बतलाये हैं, जिन्हें समझ कर तुषाग्नि में जीवन होम करने की प्रेरणा मिले। एक नया प्रसंग है नथूराम गोडसे का। उसने महात्मा गांधी की नीति को राष्ट्रघाती समझते हुए उसे तत्काल रोकने का एक ही उपाय देखा उनका वध। उसने यह भी समझा कि एक महात्मा का वध यदि राष्ट्रहित के लिए आवश्यक है तो उसका बदला प्राणदण्ड भी आवश्यक है। उसने एक साथ दोनों बातें ठान लीं कि मैं गोली मारूंगा और फांसी पर चढूंगा। अपने नये गुरु भगवान के चेलों को समझना चाहिए कि हमारे सर्वावतारी परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण ने भारत राष्ट्र की सुरक्षा और विकास के लिए हमें कौन सी शिक्षा दी है, साथ ही उन्हें यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि अपना राष्ट्र अपने नये गुरु भगवान का आकार है या नहीं, यदि हां तो आपके यहां राष्ट्र की कौन सी पूजा का विधान है। जिसके लिए श्रुति स्मृति इतिहास पुराण में एक भी अक्षर नहीं है उसे अक्षर ब्रह्म या परब्रह्म कह देना और जिस परमतत्व नारायण विष्णु के लिए लाखों वचन अपने भाव पुष्पांजलियां सदा समर्पित कर रहे हैं उस विश्वसेव्यरूप को छोटा करके स्थापित करना और जिसे शास्त्रज्ञान भी नहीं है उसकी विशाल सुवर्ण प्रतिमा बीच में स्थापित करना यह ईसाइयत से तनिक भी कम कैसे है। कोई साधु यदि अपने भगवान् के लिए श्रुति स्मृति वचन उद्धृत करता हो तो उसे समझ लेना चाहिए कि जिस शैली से वह शास्त्र वचनों को लेता है वह शैली कोई भी किसान अपना सकता है और अपने बैल को नैष्ठिक ब्रह्मचारी पर ब्रह्म

पुरुषोत्तम नारायण भी कह सकता है एवं जिसका कोई कुत्ता बहुत प्यारा हो वह अपने कुत्ते को भी उन सारे शब्दों से जोड़ सकता है, 'शुनि चैव श्वपाके च' पढ़कर वह भी कह सकता है कि सर्वावतारी नारायण कृष्ण ने कुत्ते को स्वयं ही परब्रह्म परमात्मा कहा है। इससे किसी भी पाखण्डमय संगठन को यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारा पाखण्ड मूर्खों में भले ही चले पर विद्वानों में अपनी कलई खुल ही रही है। घोर कलिकाल में बहुत से दम्भ पाखण्डमय संगठन बनते, बढ़ते, घटते और मिटते भी हैं, वे सारे के सारे सम्प्रदाय नहीं हो जाते। रात के खद्योतों से उनका कोई अधिक महत्व नहीं होता। कोई अंग्रेज कह दे कि विशिष्टद्वैत मत अच्छा है तो उतने से यह मान्य नहीं हो जाएगा कि उसने वह मत समझा भी है, समझता तो बुरी राजनीति क्यों करता? ऐसे ही कोई भी अक्षम व्यक्ति भाष्य सन्दर्भों को दस-पांच बार उद्धृत करके अपने मूर्ख साथियों में गुरु बन सकता है किन्तु जब संस्कृत भाषा में ही वह बार-बार अयोग्य ठहर रहा हो तो वह विद्वान् कैसे माना जाएगा। जिसे पाखण्ड प्यारा है वह भी यदि श्रीभाष्य समझता है तब तो कोई वेश्यागामी भी संत हो सकता है। इससे साधुवेशियों को केवल अपने अक्षम गुरु की बातें पकड़ कर नीचे गिरते जाने की भूल से बचना चाहिए और सामान्य शास्त्रों का विशेष आदर करना चाहिए। गुरु बदलते भी हैं यह भी ध्यान में रखना चाहिए। स्वामिनारायण के अमृत वचनों की रसमय उत्तम व्याख्या सम्भव थी किंतु उन्होंने अन्य देवों का घोर तिरस्कार अपने हाथ से ही करके अपनी सारी अच्छाई गहराई में दफना दी। इसके बाद भी उनके पुछल्ले साधु अपनी सारी साधुता तिल लिल कर काटने में लगे हैं, यह तथ्य प्रस्तुत है।

स्वामिनारायण संगठन ने स्वामिनारायण दर्शन नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित की है। उसमें सात लेख हिन्दी में और चार अंग्रेजी में हैं। हिन्दी में दो लेख श्रुति प्रकाशदास के हैं जो दूसरे लेखों से अधिक प्रभावी हैं। प्रथम लेख में इन्होंने अपने संगठन को एक सम्प्रदाय कहते हुए, विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय से तुलना करते हुए अपने माने हुए सम्प्रदाय का उत्कर्ष दिखलाने का प्रयास किया है। ऐसा प्रयास वे नहीं करते तो भी अपने संगठन का आकर्षक रूप प्रस्तुत कर सकते थे किन्तु शायद किन्हीं मित्रों के दबाव में आकर इन्होंने अपनी शैक्षिक योग्यता का दुरुपयोग कर डाला। उनकी भाषा सूचित करती है कि वे विपरीत

पक्ष से भी ठीक से सोच और लिख सकते थे। वे किसी परिस्थिति से बन्धे हैं। उसके अनुकूल लिखना और बोलना उनका दायित्व बन गया है। फिर भी वे एक साधु हैं, साधु को यथार्थ सत्य का पक्षपाती होना चाहिए न कि किसी अज्ञान का। सत्य के साक्षात्कार के लिए संसार छोड़ा जाता है। रंगे वस्त्र के अंदर संसार पालना घोर नरक का साधन होता है, ऐसे अनेक धर्मवचन हैं। प्रमेय से अधिक प्रमाणों पर पकड़ बनाना विद्वत्ता होती है। नये भगवान ने केवल प्रमेय उगले हैं, वह भी केवल कल्पित। कोई भी साधु सत्य का पल्ला छोड़कर किसी सम्प्रदाय के गोद में छिपना पसंद नहीं करता। फिर जो संगठन सम्प्रदाय विहीन होता हुआ भी अपना एक सम्प्रदाय मानने की भूल को ही फूल की तरह सिर पर ढो रहा है उसमें स्वयं दैववश होते हुए भी उससे अधिक लगाव न रखना ही विद्या की शोभा है। क्योंकि हर एक विद्वान् यह जानता है कि-**"न मिथ्या सत्यत्वम् भजति रचितोपायशतकैः।"** झूठ सैकड़ों उपायों से भी सत्यता नहीं पा सकता।

क्षुद्र बहुत से संगठनों में अनेक अच्छे मेधावी विवेकी मिलते हैं। वे अपने घर की क्षुद्रता की वफादारी से दूर ही रहते हुए अपने असामान्य गुणों से ख्याति पाते हैं। स्वामिनारायण का कोई नया सम्प्रदाय न बना है न बन रहा है, न बनने वाला है न उसकी किसी को कोई आवश्यकता है। हर आदमी के पीने का कुआं अलग नहीं होता। परमात्मा को साकार कहकर उन्होंने कोई मानदण्ड नहीं बनाया है। शांकर मत में भी व्यावहारिक साकारता मान्य है। सारे विष्णुभक्त आकार के पक्षधर हैं। स्वयं को परमात्मा का आकार मान कर पूजने का सुझाव गूढ़ भाषा में उपनिषदों, गीता, महाभारत और पुराणों में है किन्तु स्वामिनारायण ने स्वार्थवश उसे बहुत बिगाड़ कर लिया और चेलों को केवल अपने आदेश के रूप में दिया। 'शास्त्रपूतां वदेद् वाचम्' इस नीति से वे जान-बूझकर दूर रहे। अपनी दुरभिसन्धि जोड़ने के उद्देश्य से और श्रोताओं के संस्कारहीन होने से वे शास्त्रों का हवाला नहीं देते थे। उनकी भाषा एक अज्ञ की भाषा थी, यह दूसरी बात है कि वे कई बार शास्त्र वचनों का हवाला भी देते थे, उनके चेले आंख बंद कर उन्हें सर्व शास्त्रज्ञ कह कर स्वयं शास्त्राध्ययन की जिम्मेदारी से बचते हैं। अपने स्वयम्भू गुरु के बखान से हटकर इनके पास कोई शास्त्र नहीं होता।

अक्षर ब्रह्म की उनकी कल्पना नितान्त निराधार है। अक्षर ब्रह्म शब्द तो शास्त्रों में मिलता है, अक्षर की उपासना भी कही गई है। किन्तु इस शब्द का जैसा अर्थ ये मानते हैं वैसा किसी भी शास्त्र से प्रमाणित नहीं है। बिना प्रमाण के कोई कुछ भी कह सकता है। यदि कोई किसी शब्द को इस अर्थ में प्रमाण घोषित करता हो तो वह अज्ञानवश ही होगा। श्रुतिप्रकाश दास जी ने इसके लिए बहुत सी पंक्तियां रंगी हैं किन्तु कहीं भी ऐसी जान नहीं आयी कि कुछ उससे समझा या उत्तर दिया जाए। ऐसी स्थिति में पूर्व नीलकण्ठ वर्णी के इशारों से वे जो भी कुछ जान मान रहे हैं उस पर स्वयम् नयी प्रज्ञा चलाएं तो उनका अधिक हित होगा। उन्होंने श्री सम्प्रदाय में कुछ कल्पित त्रुटियां प्रदर्शित करके अपनी निराधार मान्यता को अच्छी ठहराने का प्रयास किया है किन्तु उन्हें समझना चाहिए कि यदि अ बिन्दु निन्दित है तो ब प्रशस्त नहीं हो जाता। ब की अपनी प्रशस्ति होनी चाहिए। यदि ब कोई बिन्दु भी न हो तो सिन्धु कैसे हो जाएगा। दोष दरसाने के क्रम में इन्होंने पहले परकाल सूरि का चरित्र सप्रमाण बहुत संक्षेप से प्रस्तुत किया। बाद में अपने गुरु भगवान की शिक्षापत्री की सात आज्ञाओं का उल्लंघन बतलाया। इनके जानते इनके गुरु भगवान् से बढ़कर कोई व्यक्तित्व विश्व में हुआ ही नहीं, इससे सबको अपने गुरु भगवान् के चरणों से जोड़ना चाहते हैं। किन्तु यदि ऐसा ही था तो उक्त गुरु भगवान् ने स्वयम् बहुतों को गुरु क्यों बनाया था। यदि तत्त्व पंचक भी पुराना है तो इनका नया क्या है? हर व्यक्ति यह जानता है कि कोई भी आज्ञा जब बनती है तब से ही लागू होती है। पहले उस अविदित आज्ञा का पालन सम्भव नहीं होता। फिर स्वामिनारायण ने स्वयं शिक्षापत्री में बार–बार कहा है कि मेरे आश्रितों को इन आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट पता चल जाता है कि आश्रितों की प्रार्थना पर उनके लिए उन्होंने शिक्षापत्री लिखी थी जिसमें मुख्य बात अगली पीढ़ी को दीक्षा देने के अधिकार की थी। बाकी अन्य बातें तो पुस्तिका को आकार देने मात्र के लिए जोड़ी गयी हैं, अन्यथा चोरी, लूट, हिंसा, व्याभिचार आदि का निषेध क्यों जोड़ा, यह सब तो सर्वविदित ही था, बल्कि इन बातों से पुराने गुजरातियों की ज्यादा ही असभ्यता समझ में आती है। अस्तु, श्रुतिप्रकाश दास यदि समझते हैं कि हमारे गुरु भगवान् ने ही पहली बार चोरी,

लूट हिंसा आदि पर रोक लगाई है, प्राचीन धर्मज्ञों को यह विदित नहीं था, तब तो परकाल सूरि का कोई दोष ही नहीं है किन्तु यदि उन्होंने अपने समय के धर्मग्रन्थों की अवहेलना की है तो उनका उल्लेख श्रुतिप्रकाश दास नहीं कर सके, इसका एक ही कारण हो सकता है किसी निरक्षर ब्रह्म की अन्ध भक्ति। आपने जिन थोड़े से शब्दों में सूरि का चरित्र उद्धृत किया है उनसे ही उनका महान् वैभव समझ में आ सकता है किन्तु आप तो बुराइयां ही बटोरने को प्रतिबद्ध थे तो गुण कैसे लेते। वास्तव में भगवान् के भक्त किसी सम्प्रदाय से बन्धे नहीं होते, उनका सम्बन्ध सीधे परमात्मा से होता है, उनका शील सबके लिए अनुकरणीय होता है, उनके सारे अपराध लंका में हुए मारुति के अपराधों जैसे थे। इसी से तो बहुत प्रसन्न भगवान् ने उन्हें बहुमूल्य रत्नों की भेंट देकर मोक्ष का एकमात्र सूत्र अष्टाक्षर मन्त्र प्रदान किया। यहां कोई अपनी दुर्बुद्धि ला सकता है कि हमें तो अष्टाक्षर से, मन्त्र देने वाले से और लेने वाले से कोई प्रेरणा नहीं मिलती, हम तो केवल सर्वावतारी को मानते हैं, उन्हीं से मेरा सब कुछ होना है, तो उसका ऐसा एक जड़ निर्णय होगा। जिस देश में हम हैं उसकी सारी अच्छाइयों से हमें पोषण मिलनी चाहिए। यदि पुराने सम्प्रदाय नहीं होते तो नये गुरु भगवान् को कौन पूछता? कौन जानता कि कोई भगवान् भी होता है। कण्ठी माला और ऊर्ध्वपुण्ड्र की प्रेरणा कहां से मिलती। जानना सब कुछ चाहिए, अच्छा जहां से मिले वह ले लेना चाहिए। अपने घर का कचड़ा फेंक देना चाहिए। पूर्वजों की धरोहर मानकर उसकी रक्षा की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। किसी ने केला दिया तो छिलका फेंककर ही खाना उचित होगा। ज्ञान एक प्रकाश है, उसे जड़ता का अन्धेरा पालते हुए नहीं पाया जा सकता। सम्प्रदाय का मोह छोड़कर भगवदीय दाय जो सारे चेतनों के लिए समान रूप से शास्त्रों में प्रस्तुत है उसे बड़े आदर से ले लेना चाहिए। फिर यदि अच्छे माध्यमों से मिल रहा हो तब तो अधिक ही आदर से लेना चाहिए। यदि हम न ले सकें तो कम से कम दूर से ही प्रणाम कर देना चाहिए। परकाल सूरि की कोई अच्छाई यदि समझ में न आए तो उन पर किसी श्रीहीन नारायण की नहीं बल्कि श्रीमान् नारायण का अनुग्रह था यह मान कर प्रणाम कर लेना चाहिए। यह नया गुरु भगवान् अपने चेलों को प्रणाम करना भी नहीं सिखला पाया यह बड़ी दयनीय विडम्बना है।

निरक्षर ब्रह्मों को वैदिक अक्षरों से कुछ न मिल पाये यह अति स्वाभाविक है। वेदों में द्वैत की निन्दा है, अद्वैत की बड़ी प्रशंसा है, यह निन्दित द्वैत क्या है, प्रशंसा वाला अद्वैत क्या है, निन्दा और प्रशंसा का मूल क्या है, यह रहस्य जो आचार्य समझ गए वे ही सद् आचार्य हैं, जिन्होंने समझने में रुचि नहीं ली वे क्या हैं यह पता नहीं। कोई व्यक्ति अद्वैत बखाने और निराधार नाना तत्त्व उगलता चले यह एक पाखण्ड के सिवा क्या होगा। ऐसा व्यक्ति अपना कोई सम्प्रदाय घोषित करे और अनादि वैदिक कल्याण मार्ग को उससे नीचा दिखलाने का प्रयत्न करे तो इससे उसकी परम क्षुद्रता ही सिद्ध होगी, चन्द्रमा कभी सूर्य से बड़ा दीख सकता है, सुधांशु भी कहला सकता है किन्तु है वह वास्तव में शुष्क और पृथिवी का छठा भाग जैसा।

श्रुतिप्रकाशदास जी ने जब अपने घर का वेदान्त एकान्त में पी लिया, तब उनकी प्रज्ञा उन पाचं तत्वों में लीन हो गयी जिनका पता परमात्मा को भी नहीं है। इसके बाद वे जो भी सोचें, बोलें और लिखें वह स्वाभाविक है। गोस्वामी तुलसीदास का वचन ध्यान में आता है कि–**''जाकर मतिभ्रम होइ खगेसा, सो कह पच्छिम उयउ दिनेशा।।''** अपने घर के किसी पहलवान को जब दैव वश बाहरी पहलवान से स्पर्धा सूझ जाए तो पहले अपने पौरुष की पुनः समीक्षा उसे कर लेनी चाहिए। पहलवान इतना जानता है और पराजय से बचता भी है किन्तु साक्षरों की अन्धश्रद्धा कभी कभी उन्हें खन्दक से निकालकर अन्धकूप में गिरा देती है।

नये रंग वाले सत्यनिष्ठ सन्तों को आत्मरक्षा के लिए निम्न प्रश्नों पर ध्यान देना चाहिए। वचनामृत में बहुत बार आया है कि जीव और ईश्वर दोनों माया से जुड़े हैं। दोनों को मोक्ष की अपेक्षा है। यहां प्रश्न होता है कि ईश्वर का कौन सा बन्धन है जो वह मोक्ष चाहता है, यदि माया का योग ही बन्धन है तो अक्षर ब्रह्म और परब्रह्म को माया का योग क्यों नहीं है, वे दोनों भी तो विभु हैं, माया से उनका योग रोका नहीं जा सकता। यदि कहें कि ब्रह्म पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता और ईश्वर पर पड़ता है तो ईश्वर यदि माया का पति हो, नियामक हो तो उसका क्या पड़ता होगा। क्या माया संसारी जीवों की तरह ईश्वर को पकड़ कर बलपूर्वक सृष्टि रक्षा और संहार करा रही है? यदि हां तो वह ईश्वर कैसे है, ईश्वर शब्द का अर्थ लोक में वह होता

है जो अपनी इच्छा से अधीनस्थ को चलाया करे। पराधीन तो दास कहा जाता है। दूसरा प्रश्न यह है कि वेदान्त में ब्रह्म का लक्षण सृष्टि स्थिति संहार कहा गया है, उस ब्रह्म को कहीं भी पराधीन नहीं कहा है, ऐसी स्थिति में आपके गुरु के मत से भी उक्त ब्रह्म लक्षणों से युक्त ईश्वर से ऊपर दो ब्रह्म नपुंसको की कल्पना क्यों है। जिसे लक्ष्मी ने नहीं परखा, जो सृष्टि रक्षा संहार नहीं करता वह तो मिट्‌टी का ढेला भी हो सकता है। वह सर्वावतारी परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण आदि बड़प्पन के शब्दों से क्यों जोड़ा जाता है? तीसरा प्रश्न है कि चौथा तत्त्व जिस क्षरण के न होने से अक्षर कहलाता है वह क्षरण शेष चारों में है या नहीं, यदि कहें कि माया के संसर्ग से जीव और ईश्वर में क्षरण होता है, माया में कर्माधीन क्षरण होता है, पांचवां तत्त्व पूर्ण रूप से अक्षर है तब तो पर ब्रह्म भी अक्षर कहा जाएगा, यदि कहें कि अक्षर शब्द की रुढ़ि चौथे तत्त्व में ही है तो यौगिक शक्ति से जीव, ईश्वर और परब्रह्म अक्षर क्यों नहीं है, यदि यौगिक शक्ति मान्य हो तो उस शक्ति को चौथे तत्त्व में कौन रोकता है। यदि पांचवां तत्त्व अक्षर नहीं कहा जाता हो तो वह अक्षर से भिन्न क्षर क्यों नहीं है। यदि **'तमीश्वराणाम् परमम्महेश्वरं तं देवतानाम् परमं च दैवतम्'** इत्यादि श्रुति वचनों से ईश्वर के ऊपर और दो तत्त्व मानते हों तो शास्त्र वचनों की शैली पर ध्यान देने की आवश्यकता है। यहां 'तम्' सर्वनाम पूर्व अवगत अर्थ का परामर्श करता है, कोई नया अर्थ कोई भी सर्वनाम नहीं देता। इसी तरह 'ईश्वराणाम्' 'महेश्वरम्' 'दैवतम्' ये विशेषण शब्द पूर्व अवगत अर्थ को ही विशेष्य बनाते हैं। विशेणवाची शब्द किसी नये अर्थ में प्रमाण नहीं होता। शब्द से किसी नये अर्थ की प्रस्तुति कार्य कारण भाव से होती है अन्यथा नहीं होती। ब्रह्म की सिद्धि जगत्कारण रूप से ही होती है। जगत् नहीं होता तो ब्रह्म का पता नहीं चलता। जीव तत्त्व की सिद्धि देहधारी के रूप में होती है। प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध अर्थों की कुछ विशेषतायें वेदादि शास्त्रों से कही जाती हैं। जगत्कारण ब्रह्म में कोई क्षरण मान्य नहीं है इससे उसे अक्षर कहते हैं। चेतन तत्त्व के स्वरूप की अवस्था नहीं बदलती इससे उसे भी वेदों ने अक्षर कहा है। प्रकृति के स्वरूप का उच्छेद नहीं होता इस आशय से उसे भी अक्षर कहा जा सकता है। विपुल होने से उसे भी गीता में ब्रह्म कहा गया है। इससे सार्वत्रिक विशेषण

अक्षर शब्द कोई नया ब्रह्म कैसे उतार पाएगा। परब्रह्म से भिन्न अक्षर ब्रह्म मानने से तो पर ब्रह्म क्षर समझ में आएगा। उसे भी अक्षर कहने से भेद समझ में नहीं आएगा। अपर ब्रह्म कहते तो अच्छा होता। किन्तु वह भी प्रमाण सिद्ध कोई अणु चेतन ठहरता। दो विभु आत्म तत्त्व सिद्ध नहीं होते। लक्ष्मी को कुछ लोग विभु मानते हैं, वहां केवल श्रद्धा कारण है कोई प्रमाण नहीं हैं अब स्वामिनारायण के चेले दूसरों को भी पञ्च तत्त्ववादी बना सकें तो प्रमाण के साथ आगे बढ़ें।

न होती सींग गदहों की भले धोबी कहें कुछ भी।
न अक्षर ब्रह्म कुछ होता, नया, जो तत्त्व हैं वह हैं।।

***

कृष्ण वल्लभ की शनि दृष्टि

श्रुति प्रकाशदास जी ने अपने संगठन के एक शिक्षित साधु कृष्ण वल्लभदास को भारत के जाने-माने महान् विद्वान् कहते हुए उनके लिखे निबन्ध से कुछ उद्धृत करते हुए सत्सम्प्रदाय की तुलना में अपने संगठन को अच्छा ठहराना चाहा है। उनके छात्र जीवन का और उनकी बुद्धि प्रतिभा का पता मुझे पहले से ही है। स्वामिनारायण से कम लोकैषणा उनकी नहीं थी, इससे अपनी सीमित बुद्धि प्रतिभा को भंजा कर मरने के बाद स्वयं भी स्वामिनारायण बनकर पुजते रहने की लालसा से स्वयं को स्वामिनारायण का अवतार घोषित किया था। जिससे उनके चेलों ने उनका मन्दिर बनवाकर उनकी भी पूजा जारी की है। स्वामिनारायण पढ़े बिना ही भगवान् माने जा रहे हैं, तो इतना पढ़े हमारे गुरु भगवान् स्वामिनारायण क्यों नहीं होंगे। यह तर्क उनके चेलों का है। गुजरात में पक्का गुरु वही होता है जो चेलों को अंधेरे की ओर बढ़ाता चले एवं स्वयम् अन्धेरे में संतुष्ट रहे।

अस्तु, श्रुतिप्रकाशदास जी ने बहुत मुश्किल से भगवान् बने कृष्ण वल्लभ को अपने जिस उद्देश्य से अखाड़े में उतारा है, वह कितना सिद्ध होता है यह देखना है। स्वामिनारायण का संगठन धीरे-धीरे अपना राष्ट्र विरोध निखारता जा रहा है। मालुम होता है कि राष्ट्र विरोधी ईसाई मुस्लिम संगठनों से धन पाकर उनके ही इशारों पर अपना उन्माद फैला रहा है। अन्यथा बिना प्रमाण के बिना ही शास्त्र चर्चा के झूठ-मूठ का एक नया वेदान्त, झूठा एक नया भगवान्, एक

नया अक्षर ब्रह्म, नयी पूजा पद्धति चलाने और देश में बहु प्रचलित एवं समस्त भारतीयों की आस्था का केन्द्र राम कृष्णादि अवतारों को नीचा दिखलाने की क्या आवश्यकता थी। स्वामिनारायण ने यदि भावुकता में आकर शास्त्र विरुद्ध कुछ बातें कर डालीं तो उन्हें अपने ही तक सीमित न रखकर पूरे देश और विदेशों में फैलाने का दुराग्रह क्यों ठान रखा है। क्या धन से ही नया सम्प्रदाय बन जाता है। सम्प्रदाय शाश्वत आत्महित के साधन होते हैं। उनका ठोस शास्त्रीय नया आधार देना किसी के वश की बात नहीं होती। ईसाई मुस्लिम संगठनों का सहन भारत की केवल गान्धीवादी नीति ही करती है, दूसरों को उनका अस्तित्व मान्य नहीं है। उनके उदाहरणों से, जैन, बौद्ध संगठनों के उदाहरणों से, बौद्धगन्धी वेदान्तियों के उदाहरणों से कोई यदि अपना नया सम्प्रदाय खड़ा करे और उसे वेदादि शास्त्र सम्मत घोषित करे तो उसे पहले शास्त्रार्थ के लिए तैयार होना होगा, केवल यह कह देने मात्र से निस्तार नहीं होगा कि हमारे गुरु ने बचपन में काशी के पण्डितों को हराया था। यदि गुरु का ज्ञान था तो वह संस्कृत में कोई प्रौढ़ ग्रन्थ लिखता या बाद वाले ही ऐसा कुछ करते। शतानन्द और गोपालानन्द ने जो कुछ रचा है वह सम्प्रदाय का आधार नहीं बन सकता। स्वामिनारायणवेदान्त की परीक्षा चलाने मात्र से कोई नया वेदान्त खड़ा नहीं हो जाता। वेदान्त एक ही है जिसे हम उपनिषद् कहते हैं। उपनिषदें ऐसी कोई कामधेनु नहीं है, कि जो जैसा चाहे वैसा अर्थ निकाल ले। विवेकी जन देखादेखी नहीं करते। स्थिर प्रज्ञा पर टिकते हैं।

अस्तु, अब हम कृष्णबल्लभ के रखे भेदों पर विचार करते हैं। पाठक इनकी मुद्रित पुस्तक ''स्वामिनारायण दर्शन'' लेकर पढ़ें, देखेंगे कि ये स्वामिनारायण के वचनों को ही प्रमाण ठहराते हैं। वेदादि शास्त्रों पर इनकी आस्था नहीं के बराबर है, इसी से मैं इनके असार वचन उद्धृत नहीं कर रहा। प्रथम भेद इन्होंने पांच तत्वों की मान्यता का रखा। उसमें अपने घर की लिखी बिना प्रमाण की पुस्तकों को प्रमाण ठहराया। ये लोग पांच तत्वों की स्वीकृति स्वामिनारायण से पहले की भी मानते हैं। वह पुरानी भी मान्यता शंकराचार्य से शापित दसनामियों के घर की मालुम होती है। न इसमें सात्त्विकता है, न तर्क है न प्रमाण है। ऐसे हम पन्द्रह तत्त्व भी मान सकते हैं। शांकर

मायावाद का खण्डन किए बिना तत्त्व पंचकवादी नया मत कैसे खड़ा हो गया। अन्य सारे आचार्यों ने अपनी अपनी मान्यता के आधार पर मायावाद का खण्डन किया है। क्या श्री सम्प्रदाय से अपना भेद दिखला कर ही यह नया मत खड़ा हो गया है? श्री सम्प्रदाय से भेद तो चोरों का समूह भी रखता है तो क्या वह कोई सम्प्रदाय हो गया?

इनका दूसरा भेद प्रथम भेद के अंदर ही आता है। यहां प्रश्न आता है कि वेदादि शास्त्रों से हम जिस परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं वही विष्णु, ईश्वर और अक्षर भी कहा जाता है। यह मानने से किस प्रमाण का विरोध होता है? स्वामिनारायण से पूर्व के सन्तों को ये पांच तत्त्व किस प्रमाण से मिले थे? ठोस उत्तर क्या है? इनके तीसरे भेद पर यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि अपने झूठ को सत्य ठहराने में अपनी ही लिखी पुस्तक प्रमाण नहीं होती। चौथे भेद पर भी इन नये साधुओं को समझना चाहिए कि विश्व के सारे कीड़े-मकोड़े भी सभी अवतारों से भिन्न और परे हैं। इन्हें पहले वाद की भाषा सीखनी चाहिए। उसके विना तत्त्व सामने नहीं आता। पांचवें भेद के बारे में महान् विद्वान् कृष्णवल्लभ यह नहीं सोच पाये कि यदि चारों व्यूह पुरुषोत्तम परमात्मा से भिन्न और न्यून हैं तब तो परमात्मा से उनकी एकता सम्भव ही नहीं है। तब उनका अन्तर्भाव शेष चार तत्वों में से किस में है? या चार और तत्त्व मान लिए जाएं? छठे भेद के सम्बन्ध में प्रश्न है कि स्वामिनारायण का अवतार दूसरे ब्रह्माण्डों में माना जाए या नहीं? यदि नहीं तो त्रिमूर्तियों का सर्वत्र होना क्यों माना जाए। यदि कोई शास्त्र वचन मिलता है तो उसका निर्वाह उनके सृष्टि आदि कार्यों से सम्भव होगा। यदि स्वामिनारायण का अवतार सर्वथा मान्य हो तो वे भी मूल परमात्मा से भिन्न और न्यून होंगे। वास्तव में जो व्यक्ति औपनिषद् ब्रह्म तत्त्व समझेगा, वह ऐसा भेद करना ही नहीं चाहेगा। ऐसा भेद तो अज्ञानी ही मानते हैं। सर्वव्यापी तत्त्व त्रिदेवों में क्यों नहीं होगा? वह सर्वात्मा है, ऐसी स्थिति में वह त्रिदेव रूप भी क्यों नहीं होगा। विशिष्टाद्वैत मानने का बकवास करने वालों को अभी तक अद्वैत तत्त्व समझ में नहीं आया है।

सातवां भेद बड़ा ही मजेदार है, प्रारब्ध ही मोक्ष बन गया है। कलियुग में भगवान् मोक्ष देने के लिए घूमने लगे गुजरात में, बोले कि मैं ही सबसे अच्छा भगवान हूं, दूसरे भगवान् अब पुराने पड़ गए हें

वे मोक्ष नहीं दे पाएंगे। मैं स्वयम् ही मोक्ष हूं, जब तक मैं सामने हूं तब तक तुम भक्त हो, मेरे प्रति श्रद्धा, सेवा, पूजा, प्रणाम ही मुक्ति है। यह शरीर छूट जाये उससे पहले ही मैं अपनी मूर्ति बनवा कर उसमें स्वयम् अपनी प्रतिष्ठा करके तुम्हें सौंप रहा हूं कि अगली पीढ़ी भी मुक्ति का आनन्द लेती रहे। जैसे मैं सबसे अच्छा भगवान् हूं, वैसे ही मेरे बनाए तुम सारे साधु ही सबसे अच्छे भक्त हो। मैं बैकुण्ठ धाम, गो लोक धाम, अक्षर धाम, श्वेत द्वीप, बदरी नारायण क्षेत्र अपनी दिव्य दृष्टि से स्वयम् देख रहा हूं, वहां के भगवानों और भक्तों की सभा भी देख रहा हूं। सबसे अच्छी सभा हमारी अपनी ही है, यह सत्य है, यदि मैं झूठ कह रहा होऊं तो तुम्हारी कसम, इन सारे परमहंसों की कसम!

यह है कलि के महान भगवान् की गुजरात में प्रवाहित हो रही अमृत वाणी। इसे पी चुके साधु अपने प्रारब्ध पर, मोक्ष पर या परम धाम पर ध्यान नहीं देते। मोक्ष देने स्वयम् आए भगवान् के दर्शनों से ही कृतार्थ रहते हैं। दूसरों को हतभागी मानते हैं। इनमें और दूसरों में भेद होना स्वाभाविक है। कोई अपने अज्ञान से ही यदि सन्तुष्ट हो तो उसे छोड़ देना ही उसका सही उपचार है। किन्तु वे जो अपने बनाए देवालयों में दूसरों के आराध्यों की छोटी मूर्तियां रखकर उनकी भी आराधना का ढोंग रच रहे हैं, वह तुरन्त बन्द कराने की आवश्यकता है। अपनी इस दुष्प्रवृत्ति से ये विधर्मियों के एजेन्ट लगते हैं। यह सम्भव है कि स्वामिनारायण की सांठ गांठ कभी विधर्मियों से बन गई हो या स्वयम् विधर्मी नीति के हों। इनकी विधर्मी नीति पर पृथक् चिन्तन होगा।

भेद आठ में वैकुण्ठ और अक्षरधाम अलग अलग हैं या शब्द मात्र का भेद है, यह निर्णय द्विभुज श्रीहीन भगवान् वालों को करना चाहिए।

नवां भेद यदि महान् विद्वान कृष्णवल्लभ को पसन्द था। विलासिता की सामग्री वाञ्छित नहीं थी तो अहमदाबाद और दिल्ली में अक्षरधाम से जुड़े बड़े-बड़े बाजार क्यों लगवाए हैं। जनता को धोखे में रखने के सिवाय इसका क्या उद्देश्य हो सकता है। इस संगठन में आर्जव कहां है?

दसवां भेद दिखलाते हुए देश के जाने-माने विद्वान् कृष्णवल्लभ

जी अब शरीर छूटने के बाद स्वामिनारायण की मूर्ति बनकर अपने जन्म स्थान पर पूजे जा रहे हैं, लिख गए हैं कि 'धाम में स्त्री-पुरुषादि लिंगभेद से विजातीय पुरुषोत्तम समानाकार मुक्त' यहां प्रश्न होता है कि जो उत्तम पुरुष होगा वह पुरुष से विजातीय कैसे होगा। पुरुष शब्द परमात्मा के लिए बहुत स्थलों पर आया है। उसे पुरुष से विजातीय कैसे माना जाए। यदि कहें कि लौकिक पुरुष से विलक्षण माना जाता है तो भी ठीक नहीं। क्योंकि परमात्मा की अपार शक्ति का एक अंश लेकर ही लौकिक पुरुष उत्पन्न होते हैं। परमात्मा स्वयं ही अपने को लौकिक पुरुष की तरह प्रस्तुत करते हैं। गीता में 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।' फिर श्रुति तो स्पष्ट ही परमात्मा को स्त्री और पुरुष कहती है। 'त्वं स्त्री त्वम् पुमान् असि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं वृद्धो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' परमात्मा पर निराकारवाद और साकारवाद दोनों श्रुतियों में उपलब्ध हैं। बहुत से आचार्य दोनों का सामञ्जस्य अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं किन्तु द्विभुज नये गुरु भगवान् तो कह गये हैं कि परमात्मा को निराकार मानना उनके प्रति अपराध है। ऐसा उन्होंने क्यों कहा यह तो उनके पक्के चेले ही जानते होंगे, किन्तु यदि भगवान् को साकार ही मानना है और उन्हें स्त्री-पुरुष आदि लिंगों से विजातीय मानना है तब तो वे वचनामृत प्रवाहित करते समय जिस नर आकार में उपलब्ध थे। उस आकार में ब्रह्मपुर में नहीं मिलेंगे। तब सामानाकार कहने का क्या तात्पर्य होगा। कृष्णवल्लभ जी ने न्याय पढ़ा था, न्याय के बड़े-बड़े ग्रन्थ भी उनके नाम पर मिल रहे हैं तो वे कोई स्पष्ट भाषा क्यों नहीं लिख पाये जिससे सही अर्थ समझ में आए। कोई कह सकता है कि उनकी भाषा उनके चेले समझते हैं। सो ठीक है, किन्तु उन्हें अपना ग्रन्थ सार्वजनिक कराकर अपना अज्ञान फैलाने की क्या आवश्यकता थी?

ग्यारहवे भेद में अक्षर ब्रह्म का और मुक्तों का द्विभुज स्वरूप मानते हैं सो ठीक है। यह भी जानना है कि वे अपने भुजों में क्या धारण करते हैं या सेवा के लिए सदा खाली रखते हैं, क्या क्या सेवा करते हैं, एवम् यह भी जानना है कि उनके स्वरूप की ऊंचाई स्वामिनारायण पूर्ण पुरुषोत्तम के बराबर ही होती है या मृत्युलोक की तरह कमबेशी एवं वस्त्र गैरिक रंग के होते हैं या सफेद, पीला वस्त्र तो उनका होगा ही नहीं, वह केवल विष्णु का होता है।

बारहवां भेद केवल शब्दों पर आधारित है। मालूम होता है कि कृष्णवल्लभ जी को भेदों की संख्या के आधार पर कुछ महान् अर्थ मिला है। शायद इसी तरह वे पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम स्वामिनारायण बन गए किन्तु उनका महान् दुर्भाग्य रहा कि बहुत पढ़ कर भी श्रीमन्नारायण नहीं बन सके। क्या गुर्जर का जन्म शापित होता है? निर्गुण, ब्राह्मी, भागवती आदि शब्दों से शुद्ध सत्व ही लिया जाता है। देखें श्रीमद्भागवत उपक्रम-1 भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोऽक्षजम्। सत्त्व विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह। पूर्ण पुरुषोत्तम को ही शुद्ध सत्त्वमय होने से विशुद्ध कहा गया है। बहुत लोग गाय मारकर खाते हैं और सातवें आसमान तक पहुंचने की दलाली प्रदर्शित करते हैं। शास्त्र वचनों की और उनके अर्थों की अनदेखी गोहत्या ही है। इससे समान आकार वाले गुरु भगवान् मिल सकते हैं। वे जहां मिलते हों वह स्थान ब्रह्मपुर कहा जा सकता है, किन्तु वह कभी भी परमपद नहीं होगा। वाणी पर लात रखकर बढ़ने वाले नरक के ही यात्री होते हैं।

तेरहवें भेद में यहां नारायण के लक्ष्मी साहचर्य में एक प्रमाण बैकुण्ठ गद्य लिखा है। गद्य त्रय लिखने से कम अक्षरों में ही अधिक अर्थ आ जाता, किन्तु कृष्णवल्लभ को तो कृष्ण पक्ष ही ज्यादा प्यारा था, इन्हें हजारों से भी ज्यादा श्रुति स्मृति इतिहास पुराण सन्दर्भ सूझ नहीं सके। लक्ष्मी के स्थान पर जिस अक्षर ब्रह्म एवम् उसके अवतार की कल्पना ये नये गुरु भगवान् वाले करते हैं, उसके लिए निरक्षर शब्द का प्रयोग ज्यादा अच्छा होगा, यहां इन्हें प्रणव रूपी या दूसरा भी कोई अक्षर वाञ्छित नहीं है, एवम् मायावादियों की मान्यता से कोई एक भी अक्षर ब्रह्म का बोध नहीं कराता, दूसरों को भी कोई प्रमाण अक्षर इनके नये ब्रह्म का बोध नहीं कराता इससे हम इनके अक्षर ब्रह्म को या कल्पित अवतार को निरक्षर कहें तो ज्यादा उपयुक्त होगा। कोई दम्भ पाखण्ड परायण चाहे जितनी बार स्वयम् को भगवान कहे या लिखे या नये कुमार्ग का गुरु बने, उसका साथ आदि से अन्त तक लक्ष्मी कभी नहीं देती, इससे लक्ष्मी के स्थान पर किसी भी निरक्षर की स्थापना अपने इष्ट या इष्ट के सेवक के रूप में कोई भी कुमार्गी करेगा ही।

चौदहवें- धाम में मुक्तों के होने के सम्बन्ध में प्रश्न होता है कि मुक्ति का जो नया उपाय नये गुरु भगवान् ने बताया है उससे भिन्न उपाय यदि सफल न माने जाएं तो धाम में एक भी मुक्त नहीं होगा,

यदि वे फलवान् हों तो नया उपाय सही कैसे होगा? अभी तो अक्षर ब्रह्म ही प्रमाणित नहीं है तो वह किसी भी तरह मोक्ष कैसे देगा? एवम् अक्षर ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई भी नित्य मुक्त नहीं हैं तब तो ये नये गुरु भगवान् भी दूसरा होने से मुक्त नहीं है, अवश्य वे यहीं कोई नया कलि कार्यक्रम रच रहे होंगे। फिर उनका नित्य सेवक छोटा ब्रह्म भी इधर ही कहीं उनके साथ होगा, तब धाम निरुपाख्य शून्य ठहरेगा।

15—शुद्ध सत्त्व त्रिगुण के अन्दर नहीं आता, वही त्रिगुणातीत है। नये गुरु का त्रिगुणातीत प्रमाणातीत हो रहा है, उसका कोई रूप नहीं बनता, इससे वह बौद्धों का निरुपाख्य शून्य ही हो सकता है। धाम को ज्योतिर्मय तेजोमेय ज्ञानमय कहने से भी वह त्रिगुणात्मक ही माना जायेगा। त्रिगुणातीत ज्योति तेज या ज्ञान नहीं होता। यदि विलक्षण ज्योति आदि मानना हो तो विलक्षण सत्त्व मानने में कुशलता होगी। शुद्ध सत्त्व ज्ञान को समग्रता पाने में सहायक होता है। मायावादियों का ज्ञान शून्य से कम नहीं होता। इससे द्विभुज भगवान् वालों को थोड़ा और सोचना चाहिए। जिन्हें गुरु ने ही भटका दिया हो उन्हें ज्ञान कौन देगा?

16—श्री प्रश्न संहिता के प्रदर्शित 51 श्लोकों में से परिमाण सूचक श्लोक उद्धृत कर के कृष्णवल्लभ जी अपनी योग्यता प्रदर्शित कर सकते थे। किन्तु ऐसा वे नहीं कर सके। वे तो अपने इष्ट की बात दोहराते हुए धाम को अधः ऊर्ध्व प्रमाण रहित लिख गए। मालूम होता है कि अपने अक्षर धाम को आकाश की तरह विभु द्रव्य मान रहे हैं। अपने अक्षर धाम को विष्णुभक्तों की तरह ब्रह्म लोक से ऊपर न मानकर सार्वत्रिक मान रहे हैं। इससे संगठन को एक लाभ होगा कि जो जहां मरा उसे वहीं अक्षर धाम मिल गया। उसके लिए गति की आवश्यकता नहीं रही। उनकी यह मान्यता उनके निराधार मत के सर्वथा उचित है।

17-19—अब अगले भेद प्रदर्शित कर रहे कृष्णवल्लभ जी की विवेकशीलता और अपने भगवान् स्वामिनारायण के प्रति निष्ठा खुल रही है। आप विष्णु धाम वैकुण्ठ में काल की गति और मानस विकार दिखलाने के लिए श्रीमद्भगवत के सन्दर्भ उद्धृत कर रहे हैं एवम् अप्रामाणिक अक्षर धाम में इन दोनों दोषों का अभाव वचनामृत के सन्दर्भों से दिखला रहे हैं। इन्हें इतना भी समझ में नहीं आया कि यदि भागवत कोई दोष मान रहा है तो वचनामृत उसे मिटा नहीं पाएगा। न

ही वचनामृत कोई नया लोक बना सकता है, न वेदादि शास्त्रों से बाहर कुछ है न समझ में आता है न स्वामिनारायण ने नया कुछ समझा है। उन्होंने अपने अहम् को बढ़ाने के लिए शास्त्रों के साथ जान बूझकर कुछ ज्यादतियां अवश्य की हैं, किन्तु ज्यादती कोई शास्त्र नहीं बन सकती। यह वे भी जानते थे, इसी से अपनी बातों को शास्त्रीय कहा करते थे। भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ने की सलाह उन्होंने बहुत बार दी है। साधु लोग पढ़ते, प्रवचन करते भी हैं। श्लोकों का सही अर्थ निकालने का दायित्व पाठकों का ही होता है। भक्तों को सही अर्थ दीखते रहते हैं, मत्सरियों को भगवान् भी खलते हैं, तब विदेशों से अपधर्म आते हैं, दम्भ फैलता है तब कोई स्वदेशी ही नया गुरु और नया भगवान् बन जाता है। दम्भियोंको समझना चाहिए कि इस उर्वरा भूमि पर हर रोज कहीं न कहीं कोई भगवान् उगता है, पुजता है, गाया जाता है और इतिहास से उतर जाता है। किन्तु जिसने जगत् बनाया है, जिसने वेद पढ़ाये, वेदों की पूजा करायी, जिसके दर्शनमात्र से यमलार्जुन जैसे स्थावरं भी मुक्त हुए वह न दबता है, न भूलता है न बदलता है, न उसकी बनायी प्रकृति बदलती है, प्रकृति का बदलाव उसकी बनायी मर्यादा के अन्दर होता है। भारत के जाने माने महान् विद्वान् कृष्णवल्लभ ने श्रीमद्भागवत ग्रन्थ को अपने वचनामृत की तुलना में निकृष्ट बतला कर अपने संगठन की समग्र मानसिकता का प्रदर्शन कर दिया। अब भक्तरञ्जनी टीका कोई साधु नहीं पढ़ता होगा। इससे यह संगठन किधर को बढ़ रहा है यह पता चलता है।

19 से 25—संख्या, 19 से 25 तक भेद प्रदर्शित करते हुए इन्होंने कपोलकल्पित अक्षर ब्रह्म की तुलना सर्वशास्त्र प्रसिद्ध लक्ष्मी जी से करने का प्रयास किया है। यह प्रयास अपने झूठ को सत्य का दर्जा दिलाने के लिये लगता है। झूठ कभी भी सत्य का दर्जा नहीं पा सकता। यह तथ्य वे पढ़ नहीं पाये थे। लक्ष्मी के सम्बन्ध में विविध मान्यता ओर अपने अक्षर के सम्बन्ध में एक ही मान्यता लिख कर धूलि प्रक्षेप किया है। उनके अक्षर के सम्बन्ध में यही सर्वसम्मति है कि स्वामिनारायण ने ही उसे कहा है, उसका विवरण उन्होंने ने ही दिया है। वह विवरण भी उनके भी हित में नहीं है। महान् अर्थ विविध रूपों से समझा जाता ही है। परमात्मा के सम्बन्ध में सैकड़ों मान्यतायें हैं, यह जानते हुए भी कृष्णवल्लभ ने ईसाई भाषा अपनायी

है, सम्भव है उनकी पावरोटी खायी हो। अमेध्य सेवन से देश के जाने माने महान् विद्वान की बुद्धि चरने चली गयी, इसी से ब्रह्म रूप होकर पर ब्रह्म की ही उपासना उन्होंने अपने नकली गुरु से सीख ली है और ऐसा ही लिख भी डाला। वे कैसे समझ पाते कि नित्य अपरिणामी चेतन तत्त्व कभी भी दूसरा रूप नहीं ले सकता। वह कोई दूध नहीं है कि दही बन जाये। यदि जीव और अक्षर ब्रह्म दो मौलिक तत्त्व है, तो जीव किसी भी उपाय से दूसरा तत्त्व कैसे बन जाएगा? जो लोग जीव को बदलने का दावा कर रहे हें वे शंकराचार्य के शापित चेलों के उच्छिष्ट से पुष्ट हैं। अन्यथा वे ऐसा सोच ही नहीं पाते। अन्धश्रद्धा से तत्वों में हेर-फेर नहीं हो जाता।

21—इक्कीसवें नम्बर पर अपने नये ब्रह्म पर जो भी कुछ लिखा है वह अपने घर की ही मान्यता के अनुसार अधूरा है। उन्हें 'व्याप्य' के स्थान पर विभु होता हुआ पर ब्रह्म का समव्याप्य लिखना था। जो लिख गये हैं वह तो चेतन सामान्य के धर्म हैं। मालूम होता है कि इन्हें बहुत पढ़ने पर भी न्याय आया ही नहीं।

22 बाईसवां भेद प्रदर्शित करने वाले कृष्णवल्लभ ने न तो वेदान्त पढ़ा, न भक्ति शास्त्र पढ़ा, विवाह भी नहीं किया। इससे पूर्ण समर्पण का भाव उनकी समझ से बहुत दूर रह गया। मुक्तावली का सामान्य विशेष प्रकरण भी उनके ध्यान पर नहीं चढ़ पाया। फिर भी भेद लिखने लगे। सेवाभाव के अन्दर ही पत्नी भाव आता है। पत्नी भाव को प्रधान और सेवाभाव को गौण लिख गए। वे यह नहीं समझ पाये कि सामान्य के अप्रधान होने से विशेष स्वयम् अप्रधान हो जाता है। स्तोत्ररत्न में ऐसी विपरीत बात इन्हें कैसे मिल गयी, इन्हें सन्दर्भ उद्धृत करना था। स्तोत्ररत्न का भाव समझे बिना ही वे गुजरात में स्वामिनारायण बनकर पूजित हो गये।

23वां भेद हमारे शेष जी को ही आप अक्षर ब्रह् कह रहे होंगे।

24वां ग. प्र. 27 का निष्कर्ष 'न ह्यम्मयानि तीर्थानि, न देवा मृच्छिलामया:। ते पुनन्त्युरुकालेन, दर्शनादेव साधव:।' यह श्लोक है। जिन सन्तों के दर्शन से पाप कटते हैं उन्हें और उनके भक्तों को श्रीमान् नारायण ही मोक्ष देते हैं। कोई नाम का नारायण हो और श्रीहीन हो तो उसके वश की बात नहीं है मोक्ष देना। कोई अक्षर या निरक्षर मोक्ष देता हो यह तो केवल अर्थवाद है।

25वां भेद यदि प्रत्येक गुरु स्वयम् अक्षर ब्रह्म ही है तब तो दत्तात्रेय के चौबीस गुरु अक्षर ब्रह्म ही रहे होंगे। ऐसे में सभी प्राणी गुरु और अक्षर ठहरेंगे, फिर शिष्य कौन होगा?

26वां भेद—ऐसा भी लिखा जा सकता है कि पर ब्रह्म कालात्मक सांप, बिच्छू, चोर, डाकू, ठग, रिश्वती के रूपों में एवं नये नये भगवानों के रूप में पाखण्डी गुरुओं के रूप में एवम् नाना जन्तुओं के रूप में पृथ्वी पर सदा उपलब्ध हैं।

27वां भेद—अनन्त ब्रह्माण्डों का पता गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में पहले ही दिया है। गुजराती जनों को नये गुरु भगवान् ने कृपा कर बतलाया। आठ आवरण ब्रह्माण्ड के ही होते हैं, मूल प्रकृति के नहीं। कृष्णवल्लभ को काशी के विद्वानों से कुछ ज्ञान नहीं मिला।

28वां भेद—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध अध्याय 14 श्लोक 11 पढ़िये। ब्रह्माण्ड का निरुपण सम्प्रदाय नहीं है। वह तो सामान्य विषय है। सब को विदित है। दम्भ से साधुता मारी जाती है किन्तु गुजरात में दम्भ भगवान् बना देता है।

29वां भेद—मन से भगवान् का त्याग हम किये ही बैठे हैं किन्तु भगवान ने हमारा त्याग नहीं किया है, इसी से हम जी रहे हैं। मन से हम माया का त्याग कर के कुछ सुख पा सकते हैं पर माया हमारा त्याग तभी करती है, जब कर्म समाप्त होते हैं। ज्ञान का अग्नि जब देर तक चित्त में जलता रहता है, तब कर्म जल जाते हैं किन्तु नये भगवान् ने जीव और परमात्मा के बीच एक नया अक्षर रखकर दोनों का सम्बन्ध रोक रखा है। यह चेतन के स्वरूप स्वभाव और कर्तव्य इन तीनों के बोध में बाधक है। बोध के अभाव में माया नहीं छूटती। नये गुरु के चेले स्वयं को माया से मुक्त कह सकते हैं, क्योंकि माया की पूरी व्यवस्था में ही उन्हें रखा जाता है।

30वां भेद—दीप जलता है, पतंग मरते हैं, मेघ गरजता है मयूर नाचते हैं। परमात्मा के नित्य संकल्प से सृष्टि रक्षा और संहार होते हैं, इसमें निर्विकार पर ब्रह्म को कोई आयास नहीं होता, इससे सृष्टि आदि केवल उनकी लीला है। उस लीला से जीवों का कल्याण होता है। अपनी लीला की सफलता से ईश्वर का आनन्द बढ़ता है। अर्थों की सुन्दर जोड़ाई सन्तों का स्वभाव होता है, तोड़ना खलों का। ब्रह्मसूत्र के

विरुद्ध लेखन खलप्रकृति ही है। श्री भाष्य का खण्डन चूहों ने किया, अपने काम में वे विद्वान् भी हैं।

31वां भेद–इसमें जो लिखा है वह प्राइमरी के बच्चों की भाषा है, उसे उद्धृत कर उत्तर लिखने पर भी कोई गुजराती समझ जाये यह कम ही सम्भव है। इसे लिख रहे कृष्णवल्लभ को दार्शनिक जगत् में भेद और अभेद कैसा माना गया है, यह बोध नहीं था। उनकी लिखी पंक्ति उनके परिगणित पांच तत्वों से हटकर और भी तीन चार तत्त्व स्वीकार सूचित कर रही है। सारे श्रुति स्मृति इतिहास पुराण ग्रन्थों में सबसे अधिक छाये लक्ष्मी नारायण तत्त्व को नकारते हुए, विष्णु शब्द का अर्थ भी न समझते हुए कोई स्वयं को भगवान् कहने लगे, शास्त्र ज्ञान न होते हुए भी सारे शास्त्रों का निष्कर्ष प्रस्तुत करने का दावा करे और उसकी बात बहुत लोग मानने लगें, यह चमत्कार अघटित घटनापटीयान् महान् परम तत्त्व की एक घातक लीला ही कही जा सकती है। जिस पर ब्रह्म परमात्मा ने द्वापर में ही बुद्ध बनकर कोटि कुपात्रों को अपनी दम्भभरी वाणी से श्रुतिपथ से बहुत दूर फेंक दिया वे कलि में अपना कृत्य भूल जायें या आलस्य करें यह कैसे सम्भव होगा। जिसके कपट वचनों से बहुत लोग शास्त्र पथ को त्याग कर हृदय में विष्णु द्वेषी बन गए और दिखावे के लिये तिलक कण्ठी धारण करने लगे उनके प्रति जगदीश का क्या रुख है यह गम्भीरता से समझने की बात है। जो लोग वचनामृत, सत्संगी जीवन, वेद रस और शिक्षापत्री जैसी पुस्तकों की समीक्षा न करके उन्हें वेदादि शास्त्रों के समकक्ष या उनसे भी अधिक प्रमाण मानते हैं वे कुरान बाइबल जैसे ग्रन्थों को क्यों नहीं मानते, ऐसा प्रश्न नहीं उठता, उसका एक ही कारण है इनका भारी दम्भ। तिलक, कण्ठी, विभिन्न देवमूर्तियों की पूजा प्रदर्शित करते हुए उन्हें नीचा दिखाने की पापमय योजना बाहरी विधर्मी नहीं बना पाये। इस विषय का विस्तार अन्यत्र है।

32वां भेद–नित्य जीव नहीं माना, दूसरा विभु ब्रह्म मान लिया, भेद रखना आवश्यक था। प्रमाण ग्रन्थ बना लिए दो चार। इन्हें कोई न पूछे कि तुम्हारे गुरु को कैसे पता चला? इससे गुरु से बार–बार कहवाया कि मैं सर्वावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम हूं। इस के बाद भी गुरु साधु ही रह गया, श्रीमान् नहीं बन सका, उसके साथ नित्य आत्मा क्यों हों। विष्णु की बात अलग है, वे तो अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न हैं,

उनके सेवक स्वयम् अनन्त कहे जाते हैं, नित्य सेवकों की कोई नियत संख्या नहीं है। मुक्त उनके दर्शन प्राप्त करते हैं यही उनका सौभाग्य होता है, नित्यों से उनकी कोई तुलना नहीं है। जब कोई साधु दम्भ से भी भगवान् बनता है तो अकेला ही रहना चाहता है। स्त्री से घबराता है। वह विष्णु की तरह काम पर विजय नहीं पा सकता। मुक्तों की बुद्धि दूषित न हो जाये इस से ब्रह्म पुर में कोई स्त्री आकृति नहीं होती। संसार वासना लिये ही हमारे साधु वहां जाते हैं।

33वां भेद–हमारे पाप–पुण्य संक्रामक होते हैं, यह सामान्य नियम नये गुरु के रंगे चेले नहीं मानते। क्योंकि यह नियम श्री वैष्णवों ने छू दिया है। किन्तु सत्संग उन्हें मिल नहीं पाता। अक्षर पाप–पुण्य के क्षरण को रोकता है। इससे मुक्ति यहीं मिलती है।

34वां भेद–देह त्याग के बाद चेतन की गतियों के बारे ईसाई मुसलमानों के भी अपने विचार हैं, उनसे सामञ्जस्य बनाकर चलने से यह संगठन अधिक व्यापक बन सकता था। उनके अलग ग्रन्थ हैं कुरआन, बाइबल आदि। ऐसे ही इनके भी वचनामृत, वेद रस, सत्संगी जीवन, शिक्षापत्री आदि अलग अवैदिक नये ग्रन्थ हैं। इनको मोक्ष देने वाला भगवान् चूड़ी दार पैजामा पहनता है। सिर पर पगड़ी बान्धकर उस में तुर्रा जोड़ता है। स्त्रियों पर दृष्टि नहीं डालता। स्त्रीहीन एवं श्रीहीन भी है। पशुओं का उद्धार करने आता है पर स्वयं को पशुपति से अलग मानता है। पशुपति की पूजा कराता है किन्तु स्वयम् वहां प्रणाम करने नहीं जाता। अपने भक्तों को लेने आप ही विमान उड़ाता हुआ धरती पर उतरता है। अक्षर ब्रह्म को अपना प्रतिनिधि बना कर नहीं भेजता, क्योंकि वह पुराना निरक्षर है, विश्वास योग्य नहीं है। सत्य से इनके भेद बहुत हैं पर इतना ही जानना काफी है कि इनका भगवान् केवल नारायण है, स्वामी भी नहीं है, स्वामी वह दूसरा है, श्रीमान् बनना उसे पसन्द नहीं था। इससे विवाह नहीं किया, श्रीहीन ही रह गया। जितने विवेकहीन मानव शरीर से छूटते हैं, उन्हें पकड़कर वह स्वयम् अपने निरक्षर धाम में ले जाता है। वहां उन्हें वह अपनी बराबरी का दर्जा नहीं देता बल्कि अक्षर नामक एक नित्य निरक्षर सेवक के साथ रख छोड़ता है।

35वां भेद–जीवन्मुक्ति निषेध और स्वीकार दोनों सुनने में भिन्न लगते हैं किन्तु वास्तव कोई भेद नहीं है। निषेध पक्ष भी उपाय रूप

से उसे स्वीकार करता हैं स्वीकार पक्ष भी उत्तर मुक्ति को ही प्रधानता देता है। द्विभुज गुरु के चेले श्रीभाष्य का खण्डन करना तो सोचते हैं पर समझने की योग्यता अर्जित किये बिना ही मर जाते हैं। चूहों ने वेदान्त पढ़ा तो नहीं पर खण्डन करते ही आ रहे हैं।

36वां भेद–'पुराणों में विष्णु पुराण का प्राधान्य' तो समझ में आता है पर 'वासुदेवमाहात्म्य की प्रधानता' का तात्पर्य समझ में नहीं आया। उक्त ग्रन्थ पुराणों में प्रधान नहीं होगा। स्वयम् पुराण नहीं है। किसी पुराण का अंश होने पर भी उसे विष्णु पुराण की तुलना नहीं मिल सकती। ग्रन्थ का कुछ परिचय देना था। विष्णु पुराण का कौन सा सन्दर्भ अमान्य है। यह भी लिखना था।

37वां भेद–जो श्रीमान् नहीं वह एक नहीं, उसका ध्यान करने वाले एकान्ती कैसे? सर्वोपरि एक होता है। श्रीमान् ही सर्वोपरि होता है। जिस पर लक्ष्मी को एकान्त भक्ति नहीं हुई वह परमात्मा नहीं, उसका भक्त वैदिक नहीं हो सकता। वह मुक्ति का भागी नहीं। विष्णुद्रोही वेदद्रोही होते हैं। वेदों का उद्धरण वे केवल दम्भ से करते हैं। वेदों से विमुख रहना उनका प्रथम लक्ष्य होता है। वैदिकों से स्पर्धा करके वे अपना स्तर ऊंचा करना चाहते हैं पर ऐसा होता नहीं। जहां विष्णु और नारायण में भेद दीखता है, भेद रचने के लिए ही ईश्वर शब्द का निकृष्ट अर्थ बनाया जाता है, किसी धूर्त को परब्रह्म परमात्मा कहा जाता है वहां एकान्ती और परम एकान्ती कैसे मिलेंगे। सारे शास्त्रों का निष्कर्ष है प्रपत्ति, उसे समझे बिना ही उससे अच्छा कोई धर्म घोषित करना मन्दिर तोड़ कर मस्जिद बनाने जैसा ही कार्य है।

38वां भेद–केवल वचनामृत की प्रधानता और सारे शास्त्रों को अंग कहने से भी अच्छा होता। नये द्विभुज गुरु को वेदान्त का या अन्य शास्त्र का केवल आभास मिला था। उन से वे अपने हित की कोई बात ले नहीं पाये। उनके बाद वालों ने थोड़ी सी संस्कृत सीखी, बस उतने से आनन्द हो गये। गुजरात शास्त्र नहीं चाहता।

39वां भेद–अभी तक संगठन को अपना सही परिचय स्वयं नहीं मिल पाया है। उस नये गुरु के नाम से ही लोग इसे जानते हैं।

आगे इन्होंने धार्मिक भेद कह कर 28 भेद दरसाये हैं। यहां भेदों की संख्या बढ़ाने में इनका मुख्य तात्पर्य था, ठोस आधार इनके पक्ष में है नहीं। इससे अन्य पक्ष में भी यथार्थ तक पहुंचने में कष्ट नहीं

किया। इनका पहनावा यदि अपने संगठन का नहीं होता, संगठन का सहयोग नहीं मिला होता तो ये बरसाती नदी के फेन की तरह न बढ़ते न किसी की नजर पर चढ़ते। संगठन ने उन्हें स्वामिनारायण बना दिया, अब मरणोत्तर भी स्वामिनारायण मान कर प्रतिमा में पूजे जा रहे हैं। प्रतिमा बनने पर भी चेतन की मरणोत्तर गति उसके कर्मों के अनुरूप ही होती है। दम्भ पाखण्डमय जीवन आगे दुर्गति ही लाता है।

1. आप अपना प्रथम धार्मिक भेद दिखलाते हुए लिखते हैं–'त्यागाश्रम में ब्रह्चर्याश्रम साधुपरम्परा' ये भूल गए कि ब्रह्मचर्याश्रम बारह वर्ष की अवस्था से पहले ही स्वीकृत होता है। यह आश्रम गुरुकुल में होता है, गुरु ही ब्रह्मचारी बनाते हैं, उसमें वस्त्र रंगा नहीं जाता, दण्ड धारण होता है, नियमित स्वाध्याय वेदाध्ययन होता है। विवाह न करके कपड़ा रंग लेने मात्र से कोई ब्रह्मचारी नहीं हो जाता, उसे साधु कहा जा सकता है पर शास्त्रनिष्ठा के अभाव में उसमें कोई साधुता भी नहीं आती। इस संगठन के अशिक्षित साधुओं का शील बहुतों को विदित है, लिखना व्यर्थ है।

2. दूसरे भेद में दोनों पक्षों में तीन-तीन मन्त्र लिखे हैं। दोनों के मन्त्र बहुत गलत हैं। ऐसी गलती किए बिना ये शायद स्वामिनारायण नहीं बन पाते। गुजरात गलती को ही सही मानता है। इनका प्रथम मन्त्र है–'ब्रह्माहं कृष्णदासोऽस्मि' चेतन सारी अवस्थाओं में परमात्मा का शेष होता है। शेषत्व ही दास्य है। इससे इस मन्त्र का कृत्रिम ब्रह्मभाव उपयोगी नहीं है। मन्त्र संख्या में बराबरी के लिये ही यह लिख दिया है। संगठन वाले इसे कम ही जानते हैं। दूसरे मन्त्र में कृष्ण शब्द आया है जो चेलों को पसन्द नहीं है, तब वह मन्त्र भी कैसे होगा। मन्त्र बनाना ही था तो 'मम' के बदले 'भव' लिखना अधिक उपयोगी होता। तीसरा मन्त्र वाक्यात्मक नहीं है, अर्थ नहीं दे रहा। स्मरण में उपयोगी होता किन्तु गुजराती नारायण अजामिल वाला नहीं है, इससे रक्षा का क्या भरोसा? ये हैं संगठन के तीन पाखण्ड। पाखण्ड कोई गाली नहीं है, धर्माभास पाखण्ड कहा जाता है, कोई यदि अपने अनुष्ठान को शास्त्रों से शुद्ध धर्म समझ सके तो वह पाखण्ड नहीं होगा।

3. तीसरे भेद में रामकृष्ण गोविन्द धून लिखा है। यह धून इनका धर्मध्वज के सिवा और क्या होगा। गुरु ने तीनों नामों और रूपों को

बार बार अनुपयोगी घोषित किया है। धून वाले यह नहीं सोचते।

4. आधुनिक लोग किसी आधुनिक के नाम से अपनी प्रसिद्धि चाहते ही हैं। उन्हें पुरानी बात नहीं रुचती, पुरानी होने से।

5–6. ऊर्ध्वतिलक और कण्ठी वैष्णवता का प्रतीक है, जो लोग शरणागति नहीं जानते वे भी यह धारण करते हैं। यह शरणागति का प्रतीक नहीं हैं किन्तु जो लोग छः पाई वाले अपने इष्ट को सर्वावतारी कह कर सबसे ऊपर रखते हैं, उसके नीचे किसी निरक्षर को रखते हैं, उससे भी नीचे माया नाम की कोई वस्तु रखते हैं। उससे भी नीचे विष्णु नामक किसी मुमुक्षु संसारी को रखते हैं। वे लोग वैष्णव चिन्ह जो धारण करते हैं वह भक्ति से नहीं बल्कि दम्भ से करते हैं, ऐसा करके वे अपनी गणना सात्विक सन्तों में कराना चाहते हैं, किन्तु जब अपना परिचय स्वयं लिखकर प्रकाशित कर रहे हैं, तब उन्हें विष्णु द्रोही न मानकर सात्त्विक कौन मानेगा। **'यो विष्णुं सततं द्वेष्टि तं विद्याद् अन्त्यरेतसम्'** जन्म से और स्वभाव से बुरे लोग भगवान का उत्कर्ष सह नहीं पाते। तब उनके विरुद्ध नाना मत चलाने लगते हैं। श्री वैष्णव जन तुलसी धारण अपने नियम से करते हैं, वह दूसरे लोग समझ नहीं पाते।

7. उत्सवों में भेद है यह ठीक है। संसार के सारे लोगों को आत्म कल्याणोत्सव मनाना चाहिए। जिस दिन किसी महापुरुष की कृपा से आत्मकल्याण का उपाय मिल गया, वह जीवन का सबसे उत्तम दिन होता है। उसकी जयन्ती मनानी चाहिए। अन्य सारे उत्सव उस जयन्ती के अंग होते हैं। नये गुरु को आत्मकल्याण का कितना अनुभव था यह दुबारा समझना चाहिये।

8. अभिवादन श्री वैष्णव ही जानते हैं वही सर्वोपरि धर्म है, दूसरे लोग न जानते न सुनते न समझते हैं।

9. विभिन्न सम्प्रदायों के मन्दिर किसी एक ही शैली में भी मिलते हैं। मन्दिर की शैली कोई सम्प्रदाय नहीं होती।

10–24. आगे संख्या 24 तक जो भेद प्रदर्शित हैं वह केवल संख्या वृद्धि के लिये हैं, वे सब न तो सम्प्रदाय हैं न उन भेदों की कोई दृढ़ता है।

25. पच्चीसवां भेद लिख रहे हैं कि श्री वैष्णवों में धर्म के लिये चोरी निषिद्ध नहीं और अपने यहां शिक्षापत्री के श्लोक 17 द्वारा

निषेध है। यहां उत्तर यह लेना चाहिए कि शिक्षा पत्री लिखे जाने से पहले चोरी का निषेध कोई नहीं जानता था, आत्मतुष्टि रूप महान् धर्म के लिये छःपाई के सारे ब्राह्मण और सारे गुजराती पटेल चोरी करते थे। स्वामिनारायण पहले ही जन्म लेकर चोरी रोक देते तो उनके फर्जी इष्टदेव बालकृष्ण भी चोरी नहीं करते, परकालसूरि की चोरी का पाप स्वामिनारायण को लगा है, वे समर्थ थे, पहले ही अवतार लेकर तमिल में शिक्षापत्री लिख देते तो वह चोरी भी रुक जाती। रावण के वंश के नाश का भी पाप स्वामिनारायण को लगा है। उन्होंने उसे राक्षसी भाषा में शिक्षापत्री लिखकर नहीं दी, इससे अज्ञानवश उसने परस्त्री हरण किया और वंश सहित मारा गया। कोई यह नहीं कह सकता कि चोरी का निषेध सभी धर्मग्रन्थों में है। वही पढ़कर लोग चोरी से बच सकते थे। यदि ऐसा था तो गुजराती भी चोरी से बच सकते थे। शिक्षापत्री क्यों लिखी। शिक्षापत्री का हवाला देने में कृष्णवल्लभ को बड़ी श्रद्धा जगी। मनु आदि के ग्रन्थ व्यर्थ थे।

26. उदार नये भगवान् ने सिंहवाहिनी के मन्दिर क्यों नहीं बनवाये? शनैश्चर देव के ही बनवा देते? उन्होंने तो उन्हीं देवताओं को महत्व दिया जिन के भक्तों की संख्या अधिक देखी, ये नये भगवान् पुराने कांग्रेसी थे, थोक मत बटोरना चाहते थे, बकवास करते थे एकान्तिक धर्म के प्रचार का। उन्हें जब कोई एक मिला ही नहीं तो एकान्तिक धर्म उनका क्या था? उस धर्म का नाम हो सकता है पाखण्ड या धर्माभास। यदि कोई कहे कि वे स्वयं को ही सबसे महान् भजनीय मोक्षदाता परमात्मा समझते थे इससे स्वयं का भजन ध्यान का आदेश देते थे, यही उनका एकान्तिक धर्म था, शरीर त्याग के बाद अवतार अक्षर ब्रह्म के रूप में और बाद में उनके अनुयायी के रूप में अपनी उपलब्धि वे बतला गए हैं इससे उनका एकान्तिक धर्म अभी भी जारी है, आगे भी जारी रहेगा तो यह कथन केवल अन्ध श्रद्धा पर आधारित होगा, यदि बहुत सन्त ऐसा मान चुके हैं तो भी आधार अन्ध श्रद्धा ही होगा। प्रमाण इसके पीछे बनता नहीं है। स्वयं कहकर या थोड़ा चमत्कार दिखलाकर कोई कुछ लोगों के लिये कुछ दिनों तक भगवान् हो सकता है किन्तु यदि कोई स्वयं को राघव यादव के समान श्रद्धेय बनाना चाहे तो वह असम्भव है। अहमदाबाद और दिल्ली से प्रदर्शनियां यदि हट जाएं तो अक्षरधाम का माने शब्द कोष से भी नहीं समझा जा पाये।

27. यज्ञ में पशु हिंसा ब्रह्मसूत्र बतलाता है, नये भगवान् के चेले पहले लिखें कि हम ब्रह्म सूत्र नहीं मानते, तब श्री वैष्णव उसका समाधान करेंगे। अभी समाधान उन्हें भी करना है।

28. उपनयन के बिना भी ब्रह्मविद्या का उपदेश प्रकारान्तर से चलता रहा है, वह उपदेश स्वामिनारायण पटेलों को देते रहे, वह सुनने के लिये ब्रह्मा, विष्णु, शिव अपने-अपने विमान से प्रतिदिन आते थे, एक दिन दिखाई पड़ गये, भक्तों ने नये गुरु की कृपा से ज्योति पुञ्ज के रूप में उन्हें प्रत्यक्ष देखा था, जय हो ऐसे स्वामिनारायण की! इससे बड़ा सम्मोहन धांधली और दम्भ क्या होगा?

आगे श्रुतिप्रकाश दास जी ने तत्त्व पंचकवाद की प्राचीनता सिद्ध करना चाहा है। कहावत है कि जहां चाह वहां राह। **जो इच्छा राखहु, मन माहीं, प्रभु प्रताप कछु दुर्लभ नाही**' यदि हम खतरे की ही ओर बढ़ना चाहें तो कौन रोक सकता है, फिर भी अच्छा होता कि हम अभ्युदय की ओर बढ़ें। तीन से यदि व्यवस्था का निर्वाह न हो रहा हो तो हम पांच या पन्द्रह भी तत्त्व मान लें, प्राचीन शास्त्र व्यर्थ लगे तो नास्तिक वाद ही पकड़ लें किन्तु अपने उज्ज्वल भविष्य का ध्यान रखते हुए यथासम्भव अपनी प्रज्ञा को शास्त्रानुसार चलायें तो अच्छा हो। प्राचीन महान् मनीषियों का आदर करना न भूलें, किसी अधकचरे के बहकावे में न आयें, किसी पद या प्रतिष्ठा के लिये फर्जी शास्त्र लिखने में न लग जाएं। पद प्रतिष्ठा धन-सम्मान इस जीवन में ही रहेंगे जब कि तत्वदर्शन आगे भी साथ देगा। अपने संगठन को उद्धव जी के द्वारा प्रवर्तित मानने वालों को श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध में बाईसवें अध्याय का परिशीलन करना चाहिये। वहां उद्धव जी ने भगवान् श्री कृष्ण से तत्वों के बारे पूछा है। भगवान् ने किसी एक तत्त्ववाद का समर्थन न करते हुए कहा है कि विद्वान ब्राह्मण जो भी बोलते हैं वह सही होता है। उनका तात्पर्य है कि तर्क प्रमाणों के आधार पर यदि तत्वों में भेद समझ में आये तो वहां सामंजस्य मानना चाहिये। इस नये गुरु ने अपने वाद तर्कों और प्रमाणों के बिना ही प्रस्तुत किये हैं। वहां उन्होंने नाना तत्त्ववादों की चर्चा की है, पंच तत्त्ववाद का भी नाम लिया है। एक दूसरा ही पंचतत्त्व बतलाया है। नये गुरु के तत्त्वपंचक की वहां चर्चा नहीं है। नये गुरु का तत्त्व पंचक तो शंकराचार्य के शापित चेलों ने गढ़ा है। उसमें स्वामिनारायण ने

उनसे ही अधूरा सीख कर अपने मन की व्याख्या कर डाली है। पंच तत्त्ववादी पूर्वपुरुषों ने जो अक्षर तत्त्व माना था वह स्वामिनारायण के जैसा ही माना था, यह कहा नहीं जा सकता। पंचतत्त्ववाद वेद व्यास को, भगवान् श्री कृष्ण को, आद्य श्री शंकराचार्य को विदित था, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। मोक्षमार्ग में पञ्च तत्त्ववाद की कोई उपयोगिता अभी तक किसी की समझ में नहीं आयी है। श्रुतिप्रकाश दास जी ने यह प्रदर्शित किया है कि पंचतत्त्वों पर चिन्तन स्वामी रामानन्द से पहले भी होता रहा। सो ठीक है, पहले यह तय करना था कि रामानन्द राम भक्त थे या कृष्ण भक्त थे। कृष्ण मन्त्र जपते थे इससे कृष्ण भक्त ही मानना होगा। नीलकण्ठ वर्णी को कृष्ण मन्त्र ही दिया था। तब रामानन्द नाम प्रतिकूल लगता है। फिर यह समझना है कि शंकराचार्य की परम्परा के थे या विष्णुभक्तों की परम्परा के। माया से जीव और ईश्वर की कल्पना शंकर परम्परा में ही है, वैष्णवों में नहीं। इससे वे शंकर की ही परम्परा के माने गये। उनके मठ में घूमते घामते आये नीलकण्ठ वर्णी। उन्हें देखते ही वे जान गये और सार्वजनिक घोषणा भी की कि यह वर्णी अवतार राम कृष्ण आदि से बहुत अधिक प्रभावी है। इससे निश्चित होता है कि साधु रामानन्द की भगवान् कृष्ण पर आस्था नहीं थी। अन्यथा अपने इष्ट से बढ़ कर वे किसी युवक को प्रभावी घोषित नहीं करते। यह कथा मनगढ़ंत भी हो सकती है क्योंकि वर्णी की क्षमता आंकने की योग्यता भक्तिहीन साधु में कैसे आ गयी। वर्णी की जीवनी में यह माना गया है कि अज्ञात आकर्षणों से और दैवी संयोगों से क्रम से वे गुजरात में लोया के स्वामी रामानन्द के पास पहुंचे। स्वामी रामानन्द को वे एक ऐसे महापुरुष लगे जिनका प्रभाव अवतार राम और कृष्ण से ज्यादा हो। अवतार से ज्यादा प्रभाव तो मूल परमात्मा का ही हो सकता है। इससे सारे अवतारों के मूल जिसे हम सर्वावतारी कह सकते हैं उन परमात्मा का अवतार वे माने गये। तब सर्वावतारी एक बड़े परमात्मा की कल्पना हुई। गुजरात मिथ्या कल्पनाओं की उर्वरा भूमि है। इससे एक मूल भगवान् और एक शाखात्मक भगवान् की कल्पना हुई। जहां भेद देखना अपराध माना गया है वहीं गुजरातियों को भेद दीखने लगा। तब शाखा के अवतारों राम कृष्ण आदि का पूजन छोड़ कर, भक्तिहीन साधु रामानन्द के कहने पर मूल का अवतार मानते हुए वर्णी को

भगवान के रूप में पूजने लगे। साधु रामानन्द ने वर्णी को मन्त्र दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और मठ का स्वामी बना दिया। दीक्षा के समय नीलकण्ठ का पहला अक्षर रखते हुए नारायण नाम दे दिया होगा। गुरु के समान वे भी स्वामी कहे गये। आगे जब अक्षर ब्रह्म का अवतार नये भगवान् ने घोषित किया तब साधु वेश अक्षर को स्वामी कहा गया और नारायण शब्द का अर्थ परमात्मा माना गया। किन्तु ज्यादा प्रसिद्धि यही है कि साधु रामानन्द ने चेले का नाम सहजानन्द रखा था। स्वामी रामानन्द ने नीलकण्ठ वर्णी को अवतार राम और कृष्ण से अधिक प्रभावी कहा, यह एकदम झूठ लगता है। क्योंकि ऐसा होने पर वे उन्हें कृष्ण मन्त्र की दीक्षा देना नहीं चाहते। वर्णी भी यदि स्वयं को राम और कृष्ण से अधिक प्रभावी और शीघ्र मोक्ष देने वाला भगवान् समझते तो एक दिन के लिये भी कृष्ण मन्त्र की दीक्षा क्यों लेते। वे तो स्वामी रामानन्द को बतला देते कि तुम्हारी तपस्या और भजन का फल देने मैं आया हूं, तुम शीघ्र ही इस शरीर के बाद अमुक अवस्था पाओगे आदि। जिसे गुरु बनाया उसे अपना रहस्य नहीं बताया और भक्त साधुओं को उन्नीस बार बताया, लिखकर भी दिया। अपने गुरु को गुरु दक्षिणा में वे मोक्ष दे सकते थे, उनकी माया का नाश कर सकते थे पर क्या किया यह पता नहीं चला।

खल न्याय पढ़ अन्याय से फिर, चढ़ गया कपि सौध ऊपर।
हिलाता है स्तम्भ देखो, है नहीं जंजीर इस पर॥
सुना था योगी बनेगा, कपि युवा यह योग पढ़कर।
किन्तु यह तो किलकिलाता, प्रकृति से उन्माद लेकर॥
जाति जाती है नहीं हट, सार्थ सारे शास्त्र पढ़कर।
गिरा डाला आम देखो, खुला था, तरु शिखर चढ़कर॥

***

कौन इन्हें नास्तिक मानेगा?

स्वामिनारायण संगठन बहुत ही नम्र शीलवान् और एक मर्यादित संगठन है। इसके प्रवर्तक स्वामिनारायण ने अपने अधिकांश वचन आदेशात्मक भाषा में कहे हैं। कुछ उपदेशात्मक एवं कुछ स्वानुभव भी कहे हैं। स्वामिनारायण ने स्वयं को भगवान् तो कहा ही है पर यह भी कह दिया कि भगवान् के दूसरे अवतारों से मेरी तुलना न करना,

अन्यथा अक्षम्य अपराध होगा। उन्होंने यह कहा है कि मैं वह हूं जिसके ही सारे अवतार हुए हैं और होने वाले हैं। सारे अवतार मेरे होने से पूज्य और नमस्कार योग्य अवश्य हैं पर उनसे मेरी कोई तुलना नहीं हैं, नदियों से समुद्र की तुलना नहीं होती। उनका यह उपदेश गुर्जर साधुओं के हृदय में ठीक बैठ गया है, इससे वे विष्णुभक्तों को भी नहीं झुकते, राम कृष्ण आदि अवतारों के उपासकों को झुकने की वह सोचते भी नहीं हैं। यही है इनका एकान्तिक धर्म जिसे इनके गुरु ने चलाया है। ऐसा धर्म आज तक किसी ने नहीं चलाया है, अपने को भगवान् घोषित करके अपनी मूर्ति अपने सामने ही बनवा कर उसमें अपनी प्रतिष्ठा अपने ही हाथों से, समन्त्रक या अमन्त्रक करने की बात सृष्टि के आरम्भ से आज तक किसी को नहीं सूझी थी। कबीर पन्थी कबीर को भगवान् मानते हैं किन्तु कबीर ने स्वयं को भगवान् माना हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है बल्कि उसने तो भगवान् को पाने की उत्कण्ठा बहुत से वचनों से व्यक्त की है। कबीरपन्थी राम कृष्ण आदि को सत्त पुरुष का अवतार कहते हैं, उस सत्त पुरुष का ही अवतार कबीर को भी कहते हैं जब कि स्वामिनारायण वाले राम कृष्ण आदि सारे अवतारों को अपने गुरु स्वामिनारायण से ही उत्पन्न मानते हैं। स्वामिनारायण के दो ही हाथ थे इससे भगवान् को वे चतुर्भुज नहीं मानते, उनके हाथ में शंख चक्र आदि भी स्वीकार नहीं करते। यदि कोई इन्हें चार भुजा और आयुधों के बारे में प्रमाण बतला दे तो ये कहेंगे कि आवश्यकता पड़ने पर तो हमारे भगवान् नाना रूप और नाना आयुध अपनाते ही हैं किन्तु स्वाभाविक उनके दो ही भुज हैं। उनके दो भुज होने में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। एवम् उनके साकार होने में भी प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, जो लोग भगवान् को निराकार मानते हैं वे प्रत्यक्ष देखे गये हमारे भगवान् के आकार को झुठलाते हैं, उनके प्रत्यक्ष दृष्ट आकार को झुठलाना वह महान् अपराध है जिसका कोई प्रायश्चित नहीं है। जो लोग अपने भगवान् को साकार देख चुके हैं वे भी यदि निराकार मानें तो इससे बढ़कर अपराध क्या होगा। नया वेदान्त पढ़े इन अनोखे साधुओं की इस भावना की समीक्षा समय पर होगी।

ये बड़े ही धर्मात्मा हैं, स्वामिनारायण ने ही इन्हें धर्मात्मा बना दिया है। अब ये बदल नहीं सकते। इनका धर्म ऐसा है कि गुरु ने कृष्ण

मन्त्र जपने को तो कहा है पर अवतार कृष्ण का भरोसा रखना मना कर दिया है। कृष्ण शब्द का अर्थ भी न स्वयं समझा न चेलों को समझाया। पंच देवताओं की उपासना पूजा प्रणाम आदि का विधान तो किया है पर किसी भी देवता को अपना रूप मानना मना कर दिया है। इनकी मान्यता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ईश्वर की ही अवस्थायें हैं, ईश्वर माया से बना होता है, इससे वह मुमुक्षु का इष्ट नहीं हो सकता। अन्य सारे देवता ईश्वर के अधीन होते हैं, तब वे तो मुमुक्षु के इष्ट और भी नहीं हो सकते। गोस्वामि तुलसीदास की तरह ये नहीं सोच सकते कि **'सीयराममय सब जग जानी करऊं प्रणाम जोरि जुग पानी'** अथवा **'निज प्रभु मय देखहिं सकल का सन करहिं विरोध'** ये तो सोचते हैं कि सारा विश्व माया का परिणाम है, वह अपने इष्ट का रूप कैसे हो सकता है, अपना इष्ट तो उस अक्षर ब्रह्म से भी ऊपर है जो ब्रह्मा आदि त्रिदेवों से ऊपर गुणातीत है। हमारे इष्ट की सेवा पूजा गुणातीत अक्षर ब्रह्म करता है। अक्षर ब्रह्म से दूसरा कोई हमारे इष्ट पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण की सेवा पूजा नहीं कर सकता। इससे स्वामिनारायण के अपनाये सारे मुमुक्षु गुरु के उपदेश से स्वयं को अक्षर ब्रह्म मानते हैं। दूसरे सम्प्रदायों के सभी मनीषी संसारी चेतन को उससे लिपटी हुई माया से उसका भेद समझा देते हैं फिर मोक्ष का जो भी उपाय वे जानते हैं वह उसे सिखला देते हैं। साधना से जब चित्त के दोष मिटते हैं और विश्व के मूल तत्त्व अपने इष्ट के प्रति भक्ति उत्कट हो जाती है तब ईश्वरीय प्रयत्न से या प्रकृति के नियम से या साधन की पूर्णतामात्र से मुक्ति मिलना माना जाता है किन्तु स्वामिनारायण के संगठन में ऐसा कुछ नहीं है, यहां तो मोक्ष की साधना गुरु ही दीक्षा देकर कर देता है, दीक्षा में वह शिष्य को अक्षर ब्रह्म बना देता है, अक्षर ब्रह्म बनना ही मोक्ष है, यहां प्रारब्ध के साथ साथ ही, मोक्ष का आनन्द मिलता है। शरीर छूटने के बाद मुक्ति मिलने का भरोसा यहां बुरा माना जाता है। फलतः स्वामिनारायण साधुओं का दुख प्रारब्ध का फल है और सुख जो भी मिल रहा है वह स्वरूप भूत सुख का अनुभव है, वही मोक्ष है। कर्मों के क्षय एवं वासना के क्षय तथा स्वरूप स्वधर्म स्वभाव के आविर्भाव के अनन्तर मिलने वाले अनन्त ज्ञान तथा आनन्द की ओर इनका ध्यान नहीं जाता। बिना कुछ किये जो मोक्ष मिल सकता है वही ये मानते हैं।

यद्यपि इनके गुरुदेव ने पांच वर्तमान और चार शास्त्रों के आश्रय की बात कही है पर वह कथन बिना विचारे ही प्रस्तुत हुआ है। पांच वर्तमान इनके गुरु ने ही पहली बार कहे हैं ऐसा नहीं है। वे भगवद्गीता के 15वें अध्याय से बिना समझे ही अधूरे रूप में उठा लिये गये हैं। सन्दर्भ छोड़कर बिना समझे अधूरा लिया गया शास्त्र वचन कल्याणकारी नहीं होता। वेदान्त सूत्रों में सांख्य और योग का स्पष्ट विरोध है। भाष्यकार चाहे कुछ भी लिखें पर विरोध तो वेदव्यास का ही है, उस विरोध पर कुछ भी प्रकाश डाले बिना और शंकराचार्य ने पांचरात्र को जिस अंश में अप्रमाण ठहराया है उस पर भी प्रकाश डाले बिना चारों शास्त्रों का मोक्ष के लिये सहारा लेने का सुझाव साधुओं के बीच स्वयं को शास्त्रज्ञ और भगवान् सूचित करने के सिवा और क्या हो सकता है। संगठन वाले अपने उपदेशक गुरु को सर्वावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण कहना तो जानते हैं पर उनके वचनों की समीक्षा विवेचन विश्लेषण की इच्छा उत्साह और क्षमता नहीं रखते। गुजरात में शास्त्र ज्ञान नहीं पचता, थोड़ा सा शास्त्र गन्ध मिलते ही कोई आचार्य होकर भगवान् बन जाता है फिर वही पूज्य पाषाण बन जाता है। वास्तव में वह पहले से ही पाषाण रहता है, इसी से उसमें शास्त्रीय संस्कार बन नहीं पाते। साधु कृष्णवल्लभदास कृष्णवल्लभाचार्य होकर भगवान् हो गया। अब उसकी प्रतिमा पूजी जा रही है। पता लगाना है कि यह रोग स्वामिनारायण के साथ वहां पहुंचा या पहले से ही रहा है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्वामिनारायण गुजरात के बजाय महाराष्ट्र, मद्रास, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, बंगाल, बिहार या यू.पी. पहुंचते तो न तो वे भगवान् बनते न गुरु होते, वहां उनसे कोई यह सुनना पसन्द नहीं करता कि मैं इसी द्विभुज श्रीहीन अवस्था में सबसे ऊपर अक्षर धाम में रहता हूं और सर्वावतारी हूं। अवतारों का प्रभाव शुरू से ही लक्षित रहता है। इनके माता-पिता को या गांव वालों को इनकी कोई असाधारणता लक्षित होने की बात इनकी जीवनी में समाविष्ट नहीं है। मार्कण्डेय मुनि ब्राह्मण वेश में इनके घर पहुंचे थे और इनका प्रभाव बतलाया था यह केवल कपोल कल्पना है। उनके नाम पर ज्योतिष की जोड़ी गयी बात ज्योतिष की मर्यादा से परे है। कर्क राशि में हरि नाम नहीं बनता, हरि नाम मिथुन राशि में होता है। मार्कण्डेय मुनि में इतना अज्ञान गुजरात को पच

सकता है। यह कल्पना भी ठीक नहीं है कि स्वामिनारायण ने शतानन्द को अपनी जीवनी लिखने के लिये सपना दिया था। वे यदि त्यागी थे तो अपनी जीवनी लिखवाने का मोह उन्हें नहीं होना चाहिये था। शरीर छूटने के बाद भी अपने सम्बन्धित कृत्यों के लिये यदि वे सचेष्ट रहे तब तो शरीर के प्रति मोह होने से वे संसारी जीव ठहरते हैं, तब सर्वावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण का अवतार मानना केवल दम्भ रह जायेगा। वास्तव में स्वयं को सहजानन्द कहने वाले स्वामिनारायण शांकर दस नामियों से अधिक प्रभावित, मिथ्या महत्वाकांक्षा से ग्रस्त, सम्मोहन शक्ति वाले एक रजोगुणी व्यक्ति थे। वे न तो स्वयम् मुमुक्षु थे, न किसी मुमुक्षु के मार्गदर्शक थे, न मोक्ष शास्त्र समझने में सक्षम थे। उनके बनाये साधुओं में गुणातीतानन्द से लेकर बाद के किसी भी व्यक्ति में सफल अध्यात्म विद्या अभिव्यक्त हुई थी या है, ऐसी मान्यता का कोई आधार नहीं है। यह अवश्य माना जा सकता है कि स्वामिनारायण के वचनों में मुक्ति का या उसके किसी भी उपाय का शास्त्रीय आधार पर निरुपण नहीं है। उन्होंने तो मोक्षमार्ग को केवल अस्त-व्यस्त किया है एवं व्यस्तता कायम रखने के लिये जीव और ब्रह्म के बीच अक्षर ब्रह्म नाम का एक अर्गल डाल दिया है कि मोक्ष का कोई उपाय बन ही न पाये।

हम स्वामिनारायण को पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण मानते और कहते भी हैं, उतने ही आदर से विष्णु भी कहते हैं। अमर कोष में **'विष्णुर्नारायणः कृष्णो'** पढ़ा है, मायावादी छाया के बिना भगवान् विष्णु के प्रति दुर्बुद्धि नहीं आती। सर्वोपरि सत्ता का ही नाम विष्णु है। **'ज्योतींषि विष्णु र्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च'** ऐसे वचन सर्वव्यापी तत्त्व को विष्णु कहते हैं। ब्रह्मा शिव के बीच की मूर्ति उनकी अनन्त अभिव्यक्तियों में अन्यतम है। यह रहस्य उनका नाम 'अनन्त' ही सूचित करता है। जैसे स्वामिनारायण सर्वोपरि तत्त्व हैं वैसे ही एक तिनका भी सर्वोपरि तत्त्व ही है। उसमें भी महान् प्रभाव कभी लक्षित होता है। विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो सर्वोपरि या सर्वावतारी तत्त्व न हो। परम तत्त्व परमात्मा का सारे विश्व में तादात्म्य अभेद और एकात्मता होने से सब कुछ ब्रह्म या परम तत्त्व माना जाता है। किन्तु किसी भी व्यक्ति को आज तक भगवान् का अवतार दो आधारों पर ही घोषित किया गया है। प्रथम आर्षवचन और

दूसरा असामान्य शक्ति। स्वामिनारायण के लिए कोई आर्षवचन नहीं है। इस अभाव को ढकने के लिये भविष्य पुराण में एक श्लोक जोड़ने का दु:साहस हुआ है किन्तु अभी संगठन वाले इसका ज्यादा प्रचार नहीं कर रहे हैं। जैसे इनके गुरु को स्वयम् भगवान् कहलाने का शौक था वैसे चेले भी अपने गुरु को भगवान् ठहराने की चिन्ता में हैं, इससे झूठ का सहारा ले रहे हैं। इनके गुरु में कोई सम्मोहन शक्ति रही है, इससे आकाश में कोई ज्योति दिखलाते थे और समाधि जैसी स्थिति श्रोताओं की उत्पन्न कर देते थे किन्तु यह पर ब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण की थी यह मानना व्यर्थ है, कतिपय क्षुद्र उपायों से यह क्षमता आती है। अनादि शास्त्रों की उपेक्षा करते हुए अशास्त्रीय प्रवचन प्रवाहित कर चुके व्यक्ति को परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण घोषित करते जाना स्वयं के प्रति, समाज के प्रति और सर्वानियन्ता परमात्मा के प्रति भी घातक अपराध है, घोर नास्तिकता है, नरक का साधन है। ज्ञानशून्य आत्मश्लाघापरायण व्यक्ति के प्रति भावना बना कर पूजते हुए ईश्वरीय अवतारों की उपेक्षा प्रदर्शित करते रहना धर्महीन शासन में चल सकता है किन्तु इतने से प्राज्ञों को प्रभावित कर लेना और विष्णुभक्तों की पंक्ति में बैठ लेना सम्भव नहीं है। इस संगठन वाले विष्णुभक्तों से दूर दूर रहते हैं, देश के नये पुराने सभी आचार्यों की उपेक्षा ही करते हैं, फिर समझे बूझे बिना उन की नकल भी करते हैं। इन्हें पहले तत्परता से समझ कर निर्णय लेना चाहिये कि हम विदेशी विधर्मियों के साथ हैं या अनादि वैदिक सनातन धर्मियों के साथ हैं या बिल्कुल अलग हैं। आत्मघाती बिल्कुल अलग ही रहते हैं, उन्हें आत्मघात से कोई बचा नहीं पाता। किन्तु इनकी मुखरता इनके आत्मघात में भी बाधक बन रही है। अब ये चाहें तो मौन साध कर आत्मघात करते जायें या अपने अनोखे पन्थ को मान्य प्रमाणों से कल्याणकारी सिद्ध करें। 'स्वामिनारायण दर्शन' नाम की पुस्तिका छपवा कर बेचने का प्रथम और चरम परिणाम फिर से समझ लें।

धृतराष्ट्र ने मरवा दिया मतिहीन सारे वंश को,
पर तत्त्व ने मारा स्वयम् मञ्चस्थ मामा कंस को।
अन्याय चलता बहुत है, परिणाम उसका नाश है,
अज्ञानियों के रक्त की, यमसदन में भी प्यास है।

* * *

अक्षर ब्रह्म का पैशाच

सत्संग और तत्त्वदर्शन से वंचित लोगों का अज्ञान घटता नहीं और संसार बढ़ता रहता है। कुछ लोग अपने जानते सत्संग करते हैं पर उनके हृदय में अवांछनीय अर्थों का ही संग रहता है इससे उन्हें सत्संग नहीं मिलता। बल्कि अन्दर ही अन्दर दुःसंग बढ़ता जाता है। स्वयं को ठीक से समझने की श्रद्धा और अपने स्वरूप में निष्ठा शास्त्रीय अर्थों पर पकड़ बनाती है तब सत्संग सफल होता है। पूर्व पापों से सब की ऐसी मानस स्थिति नहीं हो पाती, अधिकांश कुसंगी होते हैं। सत्संग में जो उपदेशक होते हैं उन्हें पूर्णरूप से शास्त्रों का ही पक्षपाती होना चाहिये, उनमें कोई भी पूर्वाग्रह न हो, यानी वित्तैषणा लोकैषणा और पुत्रैषणा का अभाव ही होना चाहिये। भोगों की लिप्सा वित्त की स्पृहा पालती है, उसके लिये अधिक लोगों को अपने पक्ष में लेने की आवश्यकता होती है, यही लोकैषणा है, अपने समान भावना वाले लोग यदि अधिक हों तो बुढ़ापे में भी वित्त लाभ होता रहता है, इसीलिये अधिक पुत्रों और शिष्यों की स्पृहा होती है, यही पुत्रैषणा है।

गुजरात के नये गुरु भगवान् में उक्त तीनों ईषणायें भरपूर थीं, 19 वर्ष की अवस्था में वे गुजरात में लोया स्थान पर पहुंचे जहां रामानन्द स्वामी अपने सक्षम उत्तराधिकारी की चिन्ता में जीवन के अन्त के निकट पहुंच चुके थे। इनके रूप रंग और वाणी से बहुत प्रभावित हुए और अपना उत्तराधिकारी बनाते हुए कह दिया कि यहां तुम भगवान् बन जाओगे, अपने भक्तों से भी कहा कि यह ब्रह्मचारी अवतार रामकृष्ण आदि से अधिक ही प्रभावशाली है, इसका पूरा सम्मान करना जिससे क्षेत्र का हित हो।

भक्तों ने उनके वचनों का पूरा पालन किया। इन्हें भगवान् घोषित करके भरपूर सम्मान दिया। उनके मन में क्षेत्र का हित सर्वोपरि था। इन्हें भगवान् ठहराने से ही हित समझा गया। दूर दूर छह मन्दिर बने, छहों में इनकी प्रतिष्ठा इनके ही हाथों से करायी गयी। वय कम होने से बड़ों के निर्देश में इनकी प्रज्ञा का उपयोग हुआ। इन्होंने जो उन्नीस बार स्वयं को भगवान् घोषित किया ओर लिखकर भी दिया वह वयस्कों के निर्देश का ही परिणाम था। उस समय एक नये भगवान् की बड़ी आवश्यकता समझी गई थी। भगवान् से कम दर्जे के व्यक्ति की बात प्रभावी नहीं होती। पर तथ्य भक्तों की भाषायें ही खोलती हैं।

इस प्रकार समयानुसार बनाये गये भगवान किशोर के माध्यम से उद्यमी गुजरातियों ने क्षेत्र का हित साधन शुरू किया जो अब भी बहुत बदलावों के साथ जारी है। बदलावों में भी बदलाव अब वांछनीय हो गये हैं, यह काम भी उद्यमी गुजराती शुरू करेंगे ही। प्रकृति के नियमों को कौन रोक सकता है। शुरू में गुर्जर समाजसेवियों का उद्देश्य समाज का सुधार रक्षा और विकास था, आज भी वह है किन्तु नीलकण्ठ वर्णी सहजानन्द का व्यक्तिगत उद्देश्य एक धनहीन ब्राह्मण परिवार में जन्मे अनाथ असहाय किशोर के अनुरूप धनलिप्सा ही प्रमुख था, धनलिप्सा स्वयं ही तीन ईषणाओं के रूप पा लेती है। यह तथ्य ध्यान में रहने से ही सन्त सहजानन्द के सारे वचनों के सही तात्पर्य खुलेंगे। साथ ही उनके सम्बन्ध में गढ़ी गयी परस्पर विरुद्ध कहानियों का रहस्य भी समझ में आयेगा। देश काल परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढालने में निपुण सहजानन्द ने अज्ञानी गुजरात में सर्वशास्त्रज्ञ और भगवान् बन कर पूजित हुए यह उनका व्यक्तिगत स्वार्थ था, मानव के लिये पूजा का फल धन ही होता है, भगवान् भी यदि मानव बन कर पूजे जाते हैं तो उस पूजा का पर्यवसान धन ही होता है। वित्तैषणा पुत्रैषणा बढ़ाती है। नवनिर्मित मन्दिरों में आ रहे विभव का उपभोक्ता मेरे बाद मेरा कोई आत्मीय ही हो ऐसा भाव इस सहजानन्द को हुआ। इससे अपने भाइयों के एक एक पुत्र को अशास्त्रीय विधि से गोद लेकर पुत्र बनाया, पुत्र ही सबसे अधिक आत्मीय होता है। उन कल्पित पुत्रों एवं कल्पित विद्वानों को अपनी शिक्षापत्री में अपने बाद शिष्य बनाने का अधिकार दिया। गुजराती ऐसा चाहते भी थे। वे अपने बाद की पीढ़ी को ऐसे व्यक्ति से मन्त्र क्यों दिलवाते जो भगवान् न हो। भगवान् के तो कल्पित पुत्र भी भगवान् ही होंगे ऐसा उन्होंने सोचा होगा। किन्तु सहजानन्द स्वामिनारायण को एक और बड़ी आवश्यकता थी अपने कल्पित अक्षर ब्रह्म की गुजरात में प्रतिष्ठा। यह उनकी सबसे बड़ी लोकैषणा थी। इस की पूर्ति के लिये वही पुराना अवतारवाद का हथकण्डा अपनाया। एक अनुरागी भक्त को अक्षर ब्रह्म का अवतार घोषित करते हुए उसे कृष्ण मन्त्र की दीक्षा दी। अपने नित्य सेवक के रूप में उसकी पहचान बतलायी। उसे चिदाकाश कहा, यह शब्द मायावादियों के घर में चलता है। गोस्वामी तुलसीदास ने शंकर जी को **'चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहं'** कहा है।

उपनिषदों में परमात्मा के लिये आकाश शब्द का प्रयोग है। 'आ समन्तात् काशते शोभत इत्याकाशः श्रीपतिः परमात्मा' इस व्युत्पत्ति से प्रभु में सारे पक्षों से स्पृहणीयता सूचित होती है। मायावादियों को भूत आकाश सूक्ष्म अनन्त और विभु होने से परमात्मा के तुल्य लगा इससे **'कोह्यन्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'** इत्यादि श्रुतिवचनों में परमात्मा के लिये आकाश शब्द लाक्षणिक लगता होगा किन्तु सगुणवादी विष्णुभक्तों को वह वाचक ही लगता है। मायावादियों ने भूत आकाश से भेद दिखलाने के लिये चिद् विशेषण जोड़ा है। बिना परिशीलन किये सहज पण्डित सहजानन्द को भी यह चिदाकाश शब्द अच्छा लगा इससे वास्तव में निरक्षर अपने अक्षर ब्रह्म को चिदाकाश कह दिया। गुजराती अशिक्षित पटेल साधु अपने गुरु के ढूंढ़े अक्षर ब्रह्म को गुरु के इशारे पर चिदाकाश कह सकते हैं पर गोस्वामी तुलसीदास ने एवम् अन्य भी प्राचीन सन्तों ने निर्विशेष ब्रह्म के लिये इसका प्रयोग किया है। इस नये गुरु भगवान् ने मायावादी वेदान्त केवल सूंघा था, सगुणवादी भावनायें हरिभक्तों से चखी थीं किन्तु लोकैषणावश अपना नया सम्प्रदाय खड़ा करने के लिये अप्रचलित पंचतत्त्ववाद स्थापित करना ठाना था। उन्होंने वेदान्त पर ठोस पकड़ बनाना नहीं चाहा था इससे उनका तत्वदर्शन अधूरा रह गया, फलतः उनके वचन और तथाकथित एकान्तिक धर्म भी मेघ खण्डों से बने घोड़े हाथी जैसे रह गये। गुजराती इनकी स्थापनाओं पर चाहे जितने भी प्रलाप कर लें पर इनके भक्त **'अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः'** इस श्रौत सूक्ति के लक्ष्य ही रहेंगे। ढीली नींव पर मजबूत इमारत नहीं बन पाती।

अचिन्त्य सुकृतों से प्राप्त साधुता मानव का एक ऐसा भाव होता है जो अभद्र भाषा में भी भद्र अर्थ ही पकड़ता है। साधुता के बिना शास्त्र ज्ञान उतना ही काम करता है जितना दण्डकवन में स्थित सम्पाती को लंका की अशोक वाटिका में बैठी सीता जी का दर्शन। उसने अपनी सूक्ष्म और दूर दृष्टि से लंका में सीताजी का दर्शन किया पर भगवान् राम से मिल कर उन्हें बतला नहीं पाया, अपने पास आये हनुमान जी को भी वह पूरा समझा नहीं पाया। सम्भव है कि जातीय तमोगुण ने उसके दर्शन को भक्ति का रूप लेने से वंचित कर दिया हो। गोस्वामि तुलसीदास ने भी मायावादी वेदान्त ही पढ़ा सुना समझा

था किन्तु उनकी वाणी ने कहीं भी ईश्वर का अस्तित्व माया के अधीन होने की बात नहीं पकड़ी। उन्हें बिना पढ़े समझे यह दम्भ रचने की भी नहीं सूझी कि मैं सांख्य योग पांचरात्र और वेदान्त मिला कर चलता हूं। उन्होंने केवल भगवान् राम के चरणों में अविचल भक्ति की भीख सदा सभी देवी देवताओं से मांगी। उन्होंने रामभक्त हनुमान् जी के ही मन्दिर बनवाये। अपने इष्ट का मन्दिर बनवाने का दु:साहस उन्हें नहीं हुआ। वे जानते थे कि अपने इष्ट का मन्दिर जैसा होना चाहिये वैसा मैं सोच भी नहीं सकता, पूजा विधि का निर्वाह भी नहीं हो पायेगा।

इधर सहजानन्द ने अपने ही मन्दिर बनवाये। अपनी मुखाकृति को परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण की मुखाकृति बतलायी ताकि अपनी आरती उतारी जाती रहे। परब्रह्म के वेदोक्त चार भुजाओं की उपेक्षा कर के स्वेच्छा से दो ही भुज बतलाये केवल अपनी मिट्टी की पूजा के लिये। इससे बड़ा अपस्वार्थ और दम्भ क्या होगा। इनका शरीर छूटने के बाद दाह होने पर जो अस्थियां संकलित हुईं वह एकत्र सुरक्षित हैं। क्या कोई साधु यह मानता होगा कि ये अस्थियां अक्षर ब्रह्म धाम की मिट्टी से बनी हैं। यदि मानता हो तब तो अक्षरधाम अमहदाबाद में ही है। मुक्त पुरुष वहीं जाते होंगे। किन्तु कोई दिखाई नहीं पड़ता। सगुण साकारवादियों को सारे मुक्त पुरुष (जीव) स्वामिनारायण सहजानन्द के साथ सत्संग करते हुए दिखाई पड़ने चाहिऐ। अज्ञानवश हम चाहे कुछ भी मानें या बोलें किन्तु तात्त्विक नियमों में कोई अन्तर नहीं आता। मूल तत्त्व को कोई निर्विशेष, निरुपाख्य, अचिन्त्य कह सकता है किन्तु उसका उपपादन कभी सम्भव नहीं है। वैज्ञानिक लोग कार्य के अनुसार तत्त्वों और उनके गुण धर्मों की कल्पना करते हैं। दार्शनिक लोग प्रमाणों पर पूरी पकड़ रखते हैं और उन परिगृहीत प्रमाणों के आधार पर ही तत्त्व स्वीकार करते हैं। भागवत आदि ग्रन्थों में स्वीकृत सारे अनेक तत्त्ववादों के पीछे प्रमाण हैं, इसी से भगवान् श्रीकृष्ण ने उनमें से किसी भी तत्त्व संख्या को गलत नहीं कहा किन्तु जैसे प्रमाण उन तत्वावादों के पोषण कर रहे हैं वैसे सहजानन्द के स्वीकृत अप्रसिद्ध पंच तत्त्ववाद के पीछे नहीं हैं। शास्त्र वचन के साथ उपयोगिता भी यदि मिलती है तब तत्त्व स्वीकृत होते हैं अन्यथा वे वचन कहीं विशेषण बनकर या सापेक्ष पुनरुक्ति बनकर रह जाते हैं।

श्रुतिप्रकाशदास जैसे सुशिक्षित गुजराती साधु यह रहस्य तत्त्वनिष्ठा होने से समझ सकते हैं। निष्ठा से ही प्रज्ञा आती और ठहरती है। आग्रह प्रज्ञा को अपने विषय से जोड़े रहता है। सहजानन्द को नया सम्प्रदाय बनाकर लोकैषणावश प्रचारित करने की जितनी इच्छा थी उतनी तत्त्व दर्शन और निष्ठा प्राप्त करने की नहीं थी। उनके भक्त कहेंगे कि वे तो भगवान् थे, उन्हें किसी भी मोक्ष साधन से क्या मतलब होता, सो ठीक है किन्तु उनके अनुगामी मोक्ष के सही उपाय अपनाये बिना वास्तव मोक्ष नहीं पा सकेंगे। कथित जीवन्मुक्ति उन्हें अवश्य सुलभ है, वह क्रीड़ा परायण शिशुओं को भी प्राप्त होती है। जीवन्मुक्ति मानना या न मानना कोई वैदुष्य नहीं है, उसमें कोई दार्शनिक मतभेद नहीं बनता।

इस स्वयम्भू नये गुरु भगवान् सहज आनन्द के उगले अभद्र पांच तत्वों पर गुजराती अद्‌भुत साधुओं के चित्त पर एक तोला भांग का नशा सदा चढ़ा रहता है। इससे ये किसी महान् की पहचान नहीं कर पाते न अपने स्वयम् मिले गुरु से बढ़कर राम कृष्ण नरसिंह वामन आदि ईश्वरीय रूपों पर तनिक भी श्रद्धा रखते हैं। विधर्मी बाहरी लोगों के अधीन जी रही भारतीय आदर्श घरानों की बालायें भारतीय आदर्शों से मुंह फेरे रहती हैं यह तो प्रसिद्ध और स्वाभाविक ही है किन्तु घर में ही बहुत कुसंग पा कर कुछ उनके ही स्तर की बन जाती और आदर्श मर्यादाओं के विरोध पर तुली रहती हैं यह भी बात छिपी नहीं है। पांच में से इनका चौथा तत्त्व विशेष आपत्ति जनक है ऐसा कोई सोचता होगा किन्तु वास्तव में सहज आनन्द ने किसी रद्दी की टोकरी से केवल खेलने के लिये अपने पसन्द के पांच तत्त्व निकाले हैं। ये पांचों शास्त्रोक्त जैसे लगते तो हैं पर हैं वास्तव में अशास्त्रीय रद्दी। जीव और ईश्वर इसलिये रद्दी हैं कि इनका अनादि अस्तित्व माया के अधीन माना जा रहा है। माया एक जेल है, उसमें सामान्य कैदी की भांति सारे जीव हैं और खूंखार कैदी की तरह ईश्वर है, उसे भी माया के बन्धन से निकलने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी जीवों को है। स्वतन्त्र अस्तित्व न होने से जीवों और ईश्वरों के बन्ध मोक्ष का निरुपण विद्वान् कोई नहीं कर पायेगा। रंगीन साधु लोग कर लेंगे। असाध्य की सिद्धि के लिये ही ऐसे साधु का अवतार होता है।

माया का बुरा हाल मायावादियों ने ही चिरकाल से कर रखा है। उन्हीं की माया को सहज आनन्द ने अपने नये सम्प्रदाय का सौध

खड़ा करने के लिये बुला लिया ओर कह दिया कि वे तुम्हें गलत बोलते हैं, तू ब्रह्म के समान ही अनादि और नित्य है। इससे माया प्रफुल्ल हो गयी। किन्तु मायाहीन सत्संग गोष्ठी में घोषणा कर दी कि माया का नाश करने के लिये सर्वावतारी मैंने अवतार धारण किया है। इससे साधु प्रसन्न हो गये। जिसे जो पसन्द हो उसे वही कह देना इस मिथ्या जगत् में कुशलता है, यह कोई धूर्तता नहीं है। यदि कोई तटस्थ व्यक्ति उक्त दोनों विरुद्ध वचनों में सामंजस्य पूछे तो मायावादी दूकान से उधार लेकर समंजस नाम का बिस्कुट पकड़ा देने से वह शान्त हो जायेगा। माया को रद्दी माना गया है पर नये साधुओं की नजरों में वह कभी रद्दी नहीं हो सकती, स्त्रीलिंग है।

बाह्याः कुदृष्टय इति द्वितयेऽप्यपारं,
घोरं तमः समुपयान्ति न हीक्षसे तान्।
जग्धस्य काननमृगैर्मृगतृष्णिकेप्सोः
कासारसत्त्वनिहतस्य च को विशेषः॥

कूरेश स्वामी ने वैकुण्ठस्तव में कहा है कि जैन बौद्ध चार्वाक आदि वेद बाह्य मनीषी और उनसे प्रभावित शंकर भास्कर यादवप्रकाश आदि कुदृष्टि लोग एवम् उनके अनुयायीजन **'अन्धं तमः प्रविशन्ति'** इस ईशावास्योपनिषद् वचन के अनुसार अविद्या में और उसके द्वारा प्रवर्तित क्रियायोग में लगे लोग अन्धकार की ओर ही बढ़ा करते हैं। उन पर अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ाने की कृपादृष्टि भगवान् की नहीं होती। वे अधिक ही पूर्व पापों से ग्रस्त रहते हैं। फलतः उनका समान रूप से नाश ही होता है। ऐसा नहीं है कि एक वर्ग वेदानुसारी होने से कल्याण प्राप्त कर लेगा। स्वयं को वेदानुसारी घोषित कर रहे कुदृष्टि जन वस्तुतः वेद बाह्यों से मिलता जुलता ही चिन्तन रखते हैं, इससे जैसे उनका नाश स्वाभाविक होता है, वैसे इनका भी होता हैं कोई मृगतृष्णा जल में दौड़ मरे या पानी पीते पीते अथाह सरोवर में डूब मरे, मृत्यु दोनों की तुल्य ही होती है।

तत्त्व के विपरीत निर्णय हिंसक पशु के समान घातक होता है। मरुभूमि में जल के लिये दौड़ता हुआ पशु थकने पर स्वयं शान्त हो जायेगा या पानी पीने के लिये अथाह जल में उतरा व्यक्ति यदि डूबे तो भी तैर कर निकल जायेगा ऐसा नहीं सोचना चाहिये। दोनों जगह घातक पशु होते हैं। थकने से पहले भी पकड़ कर खा जाते हैं।

विरोधी निर्णय विरोधी संस्कार उत्पन्न करता है वह संस्कार हिंसक पशु से तनिक भी कम घातक नहीं होता। असावधान लोग गलत वाक्यों को भी अन्ध श्रद्धा से गुरु मन्त्र की भांति अपना कर आत्मनाश कर लेते हैं। नित्य आत्मा असीम काल तक भ्रम के अन्धेरे में भटकता रहता है। युवती प्रमदा देर तक योग्य वर की तलाश में अपनी जवानी टाल नहीं सकती। उपलब्ध अयोग्य का भी पति रूप से वरण करके उसे परमात्मा मान कर पूजने लगती है किन्तु विवेकी पुरुष को युवती वाली बाध्यता नहीं होती। वह शास्त्रोक्त लक्षण सम्पन्न सदाचार्य का ही गुरु रूप में वरण करता है।

स्वामिनारायण सहजानन्द ने यद्यपि शांकर मिथ्यावाद को अस्वीकार करने की घोषणा की है फिर भी उन्होंने प्रमाद की अवस्था में जो शांकर एकदेशियों के पांच तत्त्व पकड़े हैं एवम् उनके जो जो अधूरे और विपरीत लक्षण अपने चेलों को पढ़ा दिया है उनसे किसी का कोई हित न हुआ है न आगे होने की सम्भावना है। उन्हें भगवान् मानने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। भगवद्गीता में प्राणिमात्र को भगवान् मानने का सुझाव है **'विद्याविनयसम्पन्ने'** अध्याय 5 श्लोक 18/ऋषभदेव और बुद्ध ये दोनों भगवान् ही थे, उनके आचरण और वचन वेदानुसारी न होने से अमान्य हैं। सहजानन्द शांकर मायावादी छाया में ही आजीवन रहे, स्वयं को 'अहम्ब्रह्मास्मि' की अशास्त्रीय व्याख्या से प्रभावित होकर ही ब्रह्म माना और चेलों को अवतार एवं सर्वावतारी आदि वाग्जाल से घेरे रखा। उन्नीस वर्ष की अवस्था से पहले उनके भगवान् होने की बात शतानन्दको स्वप्न में ही मिली थी। स्वप्न ज्यादातर झूठ ही होता है। उत्तर काल के उनके सारे चमत्कार साधारण सम्मोहन शक्ति से सम्भव थे। ऐसा सम्मोहन मैस्मरिज्म वाले प्रदर्शित करते रहते हैं। जो लोग चमत्कारों के आधार पर भगवान मानते हैं उन्हें केवल नरसिंह भगवान् का उपासक होना चाहिये। तीव्र ध्वनि के साथ पत्थर का खम्भा फाड़कर प्रकट होना और खम्भा का स्थान छोड़े बिना ही असुर राज को अपने गोद में सम्मोहन से आकृष्ट करके उसे नाखूनों से फाड़ डालने से बढ़ कर चमत्कार और क्या होगा। उस समय सारे देवताओं की उपस्थिति और क्रम से स्तुति गान उस महान् चमत्कार पर एक और ही चमत्कार बन जाता है। ऐसे नरसिंह भगवान् को यदि हम सहजानन्द के सुझाव पर दूर का भगवान् मान कर भूलें

तब तो आज वे भी दूर हो चुके हैं और हमारे देश में जो बहुत से चमत्कारी महापुरुष चलते फिरते मिल रहे हैं वे निकट हैं, अतः उन्हीं में से किसी को सारे अवतारों के अवतारी मानकर ध्यान स्मरण पूजा आदि करते रहें तो उनका वचन मानना कहा जायेगा। वचनामृत भी बहुतों के बहुत प्रकार के बहुत से पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। दूर के भगवानों को छोड़ने का सुझाव देकर उन्होंने स्वयं ही स्वयं को गुजरात से बाहर वालों के लिये और गुजरात के भी बाद में जन्म लेने वालों के लिये वर्जनीय ठहरा रखा है। अब तो स्वामिनारायण बहुत ही दूर के हो गये हैं इससे उनके सारे मन्दिरों में शुद्ध मानवता वादी शास्त्र विरोधी मनीषियों की मूर्तियां स्थापित करके उनके सामने साष्टांग लगाना शुरू करना चाहिये।

गुजरात के स्वयम्भू गुरु भगवान् सहज आनन्द ने जीव ईश्वर का अस्तित्व मायावादियों की तरह माया के अधीन कहा है किन्तु उनकी ही तरह माया को मिथ्या न मान कर उसे अनादि और नित्य कहा है। फिर भी अपने अवतार का प्रयोजन जब लिखित दिया तो बतलाया कि माया का नाश करने के लिये मैंने अवतार धारण किया है किन्तु दम्भ भरे वचनों के सिवा उनके पास कोई ऐसा औजार नहीं था कि अनादि नित्य माया का नाश सम्भव हो। गुजरात के इस स्वयम्भू गुरु को जब जो समझ में आया तब वह बोल गये। उनके वचनों में सामंजस्य स्थापन का कार्य उनके चेलों के जिम्मे रहा। अपने जीवन में ही अपनी मूर्ति बनवा कर अपने ही हाथों अपने संकल्प मात्र से प्रतिष्ठा कर के भक्तों को पूजने का जो आदेश उन्होंने दिया वही उनके वचनों में एकता लाने का एकमात्र माध्यम बन गया। इसी से उन्होंने जहां जहां राधाकृष्ण की महिमा बखानी वहां वहां चेलों ने तथाकथित अक्षर ब्रह्म समझा। ब्रह्म और कृष्ण की एकता तो सम्भव है किन्तु अक्षर और राधा में कोई तुलना भी नहीं है।

फिर भी गुरु के संकेत से चेले ऐसा ही मानते हैं। गुजरात में दग्धपक्ष सम्पाती की तरह एक श्रीहीन परमात्मा तो उतरा ही किन्तु देखा देखी वहां एक मिनी परमात्मा भी उतरा। उसमें कोई गुण नहीं था फिर भी आनन्द उसे मिलता था इससे उसका नाम गुणातीत आनन्द पड़ा। वेदों में उसके लिये एक भी अक्षर नहीं है शास्त्रों के अक्षरों से उसका कोई दृढ़ परिचय भी नहीं था। फिर भी नये भगवान्

के अक्षरों को वह पकड़ लेता था। इससे निरक्षर न कह कर उसे अक्षर कहा गया, महान् बनने की ललक उसे बहुत थी, इससे ब्रह्म भी घोषित हुआ। श्रीहीन नारायण को गुणहीन ब्रह्म मिलने से दोनों को आपस में बहुत सन्तुष्टि हुई। ध्वनि आयी 'अहो रूपम् अहो ध्वनिः'।

इन रमाऽतीत और गुणातीत दोनों में से एक भी ब्रह्म वेदादि शास्त्रों में कहीं उपलब्ध नहीं है। ये दोनों शांकर दसनामियों में से किसी निरक्षर एक के झोले में चिरकाल से पड़े थे। वह झोला कइयों के हाथों से होता हुआ लोया (गुजरात) के साधु रामानन्द के हाथों पड़ा। कालान्तर में वही स्वयम्भू गुरु सहज आनन्द को मिले। उनसे दो ब्रह्म वाला एक नया सम्प्रदाय चलाने का उत्साह सहज आनन्द को हुआ। अवतारों से जनता में भगवान् पर ज्यादा विश्वास होता है। इससे स्वयं को रमाऽतीत पर ब्रह्म का अवतार बतलाया और एक किसी गुणातीत को गुणातीत का अवतार घोषित करते हुए उसका नाम गुणातीतानन्द कह दिया।

किन्तु आगम निगम सन्दर्भों से हट कर किसी पुराने झोले से निकले एक या दो भी ब्रह्म से न कोई सम्प्रदाय बनता है न आत्म रक्षा होती है। अवश्य ही ये दोनों अविद्या कल्पित पदार्थों के रूप में होने से दम्भ मान मद बढ़ा कर महान् जनों के प्रति अपराध बढ़ा कर आत्मनाश में हेतु बनते हैं। इसी से देखा जाता है कि इस सहजानन्द संगठन के सदस्य कभी किसी विष्णुभक्त के लिये सिर नहीं झुकाते, बहुत प्रसन्न होते हैं तो ईसाई मुसलमानों की तरह हाथ मिला लेते हैं। ये जो कण्ठी और तिलक धारण करते हैं वह देखने में तो विष्णुभक्ति का चिन्ह होता है किन्तु हृदय से ये विष्णुद्रोही होते हैं। इनका आराध्य देवता स्वामिनारायण कोई शास्त्रीय देवता नहीं है, विष्णु भगवान् का अवतार नहीं है, वह तो स्वयं को श्रीहीन द्विभुज नित्य साकार चूड़ीदार पायजामा वाले पर ब्रह्म का अवतार कहता रहा। उसने भगवान् विष्णु को संसारी जीवों के समान ही माया में बन्धा मानता हुआ स्वयं को कल्पित अक्षर ब्रह्म से भी ऊपर, वैकुण्ठ से ऊपर, गोलोक से ऊपर अक्षर ब्रह्म धाम का निवासी बताया है। समाज विष्णु प्रिया तुलसी को संसार में सबसे अधिक पवित्र मानता है, इससे समाज की दृष्टि में श्रेष्ठ ठहरने के लिये अन्दर से विष्णु द्रोही होता हुआ भी वह तुलसी की कण्ठी धारण करता था। स्वयं को तो विष्णु से बहुत ऊपर घोषित

किया किन्तु तुलसी से श्रेष्ठ दूसरी वस्तु न मिलने से लाचारी से एकमात्र विष्णु की प्यारी तुलसी का परिग्रह किया है। इससे बड़ा दम्भ और पाखण्ड क्या होगा।

अनपढ़ जन भी जानते झूठ सत्य का भेद।
गुर्जर कैसे जानते दो में निपट अभेद॥

***

अनोखी भक्तियाँ

गुजराती जन धनार्जन एवं व्यवहार कौशल में अवश्य आगे हैं किन्तु हृदय में ज्ञान के प्रति महान् आलस्य है। इस आलस्य ने दो काम किये हैं। एक तो अपने नये उपदेशक को गुरु घोषित कर दिया और दूसरा अपने गुरु से अलग सोच रखने वालों के प्रति दूरगामी ईर्ष्या जमा दी। अन्य क्षेत्रों में गुरु को भगवान् कहा जाता है। किन्तु गुजरात में एक मूर्ख भी गुरु हो जाता है और गुरु होने के नाते भगवान् हो जाता है। उसे जब कुछ लोग आदर से भगवान् कह देते हैं तब वह स्वयम् भी अपने आपको भगवान् घोषित करके अपनी पूजा शुरू करा देता है। आगे भी पूजा जारी रखने के लिये उसकी प्रतिमा स्थापित हो जाती है। स्वामिनारायण उपदेशक थे किन्तु मन्त्र दीक्षा देने की शास्त्रीय योग्यता उनमें नहीं थी। यह तथ्य उनका वचनामृत दिखला रहा है। योग्यता के अभाव में भी वे गुरु मान लिये गये। रामानन्द भी ऐसे ही रहे होंगे। देश में अज्ञानी गुरुओं की ही तादाद ज्यादा है। गुरु को भगवान् मानने का उत्साह गुजरात में ज्यादा देखा जाता है। उस उत्साह ने हजारों स्वामिनारायण मन्दिर बनवा दिये हैं। और भी अनेक सन्तों और महापुरुषों के मन्दिर बने हैं। सर्वत्र दर्शन और प्रणाम होता है।

उपदेशक उपदेश देता है, आदेश नहीं, किन्तु स्वामिनारायण ने स्वयम् भगवान् कहलाते हुए आदेश भी दिये हैं। अब उनके सारे उपदेश आदेश मान लिये गये हैं। उनके जीवन में बहुत सी असामान्य बातें रही हैं या मानी गयी हैं, जो एक असामान्य व्यक्ति की ही हो सकती हैं। वह असामान्यता ही भगवान् या अति महान् बना देती है। स्वामिनारायण में नैसर्गिक एक सम्मोहन शक्ति थी। इससे उनके सामने उनसे हटकर कोई कुछ नहीं सोच पाता था बल्कि उनकी कही

सही मान लेता था। व्यापक अनुभव के अभाव में भी श्रोता प्रस्तुत बात मान लेता और कुछ चमत्कारों से श्रद्धा भी करता है। चमत्कारों ने ही स्वामिनारायण को भगवान् बना दिया ओर उनके द्वारा जारी की गयी मठ मन्दिरों की व्यवस्था ने अन्ध श्रद्धा के सहारे एक फर्जी सम्प्रदाय भी बना दिया। इस सम्प्रदाय में कई अनोखी भक्तियां हैं। इसे कोई सर्वसम्मत नाम नहीं मिल पाया है इससे अनोखी भक्तियों का सम्प्रदाय भी कहा जा सकता है।

यहां पहली अनोखी भक्ति है अक्षर ब्रह्म से एकात्मता। अक्षर ब्रह्म शब्द उपनिषदों में प्रचलित है किन्तु जैसा अर्थ स्वामिनारायण ने अपने चेलों को पढ़ाया है वैसा कहीं उपलब्ध नहीं है। इस संगठन के अच्छे विद्वान् श्रुतिप्रकाश दास जी ने इस पर बहुत प्रकाश डालने का प्रयास किया है पर वह मन्दमतियों को ही ग्राह्य होगा। कोई प्रामाणिक व्यक्ति उसे नहीं मानेगा। जो अर्थ प्रमाणों की पहुंच से बहुत दूर है वही नये गुरु भगवान् को गुजराती मुमुक्षुओं के मोक्षमार्ग के मील का पहला और आखिरी पत्थर दिखाई पड़ा। गगन कुसुम सुरभित उसी बन्ध्या सुत सुहृद् अक्षर ब्रह् से एकात्मता साध कर नये गुजराती साधु जीवन्मुक्त हो जाते और विदेह मुक्ति को ध्यान से उतार देते हैं। दूसरी अनोखी भक्ति इनकी यह है कि जिस तथाकथित अक्षर का पता वेदादि शास्त्रों को नहीं चला उसका अवतार अपने गुरु के कहने से मान रहे हैं। गुणातीतानन्द प्रथम अवतार माने गये बाद में कोई दर्जी कोई धोबी भक्त आये और अक्षर के अवतार मान कर पूजे गये, पूजा चल रही है आगे भी चलेगी। अक्षर का अवतार होने के लिये किसी योग्यता की अपेक्षा नहीं हैं इस संगठन में तो भगवान् बनने के लिये भी विशेष योग्यता नहीं चाहिये। थोड़ा चमत्कार हो, कुछ बोलना आता हो और झूठ बोलने का साहस हो तो कोई भी भगवान् बन सकता है। घनश्याम नाम का बालक बार-बार अपने नाम और वेष बदलता हुआ भगवान् बनने के लिये देश भर में घूमता रहा और अन्त में गुजरात में पहुंच कर सन्त रामानन्द की कृपा से भगवान् बन गया। इसका प्रभाव इतना फैला कि इसका नाम स्वामिनारायण भगवान् पर ब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम का पर्याय बन गया। अब तो लोग भगवान् बनने की इच्छा छोड़कर स्वामिनारायण बनने की इच्छा करने लगे। संगठन वालों ने एक बालक को कुछ योग्य पाकर पढ़ने में देर तक सहायता पहुंचायी।

अपनी सहज जड़ता का त्याग किये बिना ही वह बहुत सी डिग्रियों का धनी बन गया। साधु तो वह बना ही था। लोगों के कहने से अपने संगठन को एक नया सम्प्रदाय बनाने की नीयत से उसने बहुत कुछ लिख डाला। तब संगठन भी और सम्प्रदायों की तरह एक सम्प्रदाय बन गया। बच्चे घरौंदे बना कर मान लेते हैं कि हमारा घर बन गया। अब लोग इस दुर्विदग्ध पण्डित को स्वामिनारायण कहने लगे। अवसर देखकर वह स्वयं भी अपने को स्वामिनारायण कहने लगा। अब मरने पर भी उसकी प्रतिमा भगवान् स्वामिनारायण मानकर पूजी जा रही है। गुजरात की लगभग ऐसी ही प्राचीन मनोवृत्ति का आकलन करके पद्म पुराण में भक्ति ने कहा है कि **'अहं गुर्जरे जीर्णतां गता'** यहां किसी का भी अवतार मिल जायेगा, कोई भी मूर्ख बिना ही तपस्या के भगवान् बना पूजा जा रहा होगा। स्वामिनारायण की बड़ी-बड़ी तपस्याओं की बातें कही जाती हैं, वे बातें विद्या के सम्बन्ध में जितनी सच्ची हैं उतनी ही सच्ची होंगी। इनकी विद्वत्ता इनके वचनामृत संग्रह से विवेकियों को स्पष्ट है।

इनकी तीसरी अनोखी भक्ति भी जानने योग्य है। विश्व के सारे चेतनों की श्रद्धा और प्रीति का एकमात्र केन्द्र भगवान् विष्णु हैं। यह तथ्य श्रुति स्मृति इतिहास पुराण ग्रन्थों के परिशीलन करने वाले मनीषियों को सुलभ है। बहुत से प्रौढ़ पण्डित विष्णुभक्त नहीं होते, उनका परम्परागत इष्टदेव कोई और ही होता है। फिर भी भगवान् विष्णु की सर्वश्रेष्ठता वे भी शास्त्रज्ञ होने से स्वीकार करते हैं। श्रीमद्भागवत सप्ताह पारायण श्रवण प्रवचन आदि करते हैं, विष्णुभक्तों का हृदय से आदर भी करते हैं। किन्तु इस अनोखे गुरु भगवान् ने शिक्षा पत्री में श्रीमद्भागवत श्रवण का उपदेश देकर भी चेलों को ऐसा घुमा दिया है कि वे किसी भी विष्णुभक्त को देखकर प्रसन्न नहीं होते, उसके लिए न हाथ जोड़ते न सिर झुकाते हैं। शिक्षा पत्री में ब्राह्मणों का आदर करने का आदेश दिया है फिर भी इनके हरिभक्त न तो ब्राह्मण को झुकते हैं न विष्णुभक्त को। ऐसा क्यों होता है कि इन का जो एक नया अक्षर ब्रह्म मिल गया है वह शास्त्रों में भले कहीं एक तिल भी स्थान न पा सका हो पर नये इस गुरु के नये चेलों के हृदय में उसे भगवान् विष्णु से बहुत ऊपर स्थान है। चेले पढ़े होते हैं कि जीवों से ऊपर ईश्वर है, वही विष्णु बनकर पालन करता

है, उस ईश्वर से ऊपर माया है, वह माया ही ईश्वर बनाती है, माया से ऊपर अक्षर है जो नीचे के सारे तत्वों पर अपना अधिकार रखता है, उससे ऊपर परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मा हैं जो साक्षात् स्वामिनारायण हैं। ये पांच तत्त्व वेदादि शास्त्रों में भले उपलब्ध न हों पर दम्भियों और अल्पज्ञों को बहुत से प्रमाणों सें उपलब्ध होते हैं। जब गुरु ही सर्वावतारी कहलाता हुआ उलटा घूमता रहा तब चेलों का क्या कहना है। पंच तत्त्ववाद में भी विश्वरक्षा का दायित्व विष्णु तत्त्व को ही है, न अक्षर को न परब्रह्म को। ऐसी स्थिति में इन नये चेलों को विष्णुभक्त होना चाहिए था किन्तु जब गुरु ही विष्णु द्वेषी भावना से स्वयं को सर्वोपरि बतलाता रहा और अपनी ही सेवा पूजा का आदेश देता रहा तब संस्कृत भाषा भी न जानने वाले चेले क्या करते। यद्यपि आज के चेले बोलते हैं कि हमारे गुरु ने शास्त्रार्थ में सभी पण्डितों को पछाड़ा था पर वचनामृत की भाषा बतलाती है कि इस व्यक्ति में दम्भ की प्रधानता थी विद्या की नहीं। विद्वान् की भाषा में विद्या झलकती ही है। इस प्रकार इस नये संगठन का विष्णु विरोध भी एक अनोखी भक्ति है।

इनकी चौथी अनोखी भक्ति है इनकी कण्ठी और तिलक। कण्ठी और तिलक विष्णुभक्तों की पहचान है। स्वयं को विष्णुभक्तों में प्रदर्शित करने की इच्छा से ये लोग ऊर्ध्व रेखा धारण करते ओर गले में कण्ठी बान्धते हैं। ऐसा इसलिये इन्हें करना पड़ता है कि माया की, अक्षर की और पर ब्रह्म की कोई शास्त्रीय पहचान या चिन्ह इन्हे आज तक नहीं मिल पाया। सत्पुरुषों में गणना के लिये वैष्णव चिन्ह ही इन्हें भाता है। इसलिये वैष्णवता न होने पर भी ये लोग वैष्णव चिन्ह ही धारण करते हैं किन्तु बीच में जो लाल चद्रक है वह शांकर संन्यासियों की नकल है। यह तिलक स्वामिनारायण का ही चलाया हुआ है। इसका कोई शास्त्रीय या परम्परागत आधार नहीं है। बाहर से वैष्णवता और अन्दर से मायावाद की सूचना यह तिलक देता है। मायावाद में मोक्ष की उपेक्षा है, यहां भी लगभग ऐसा ही है। वह स्थिति कैसे आती है जब परब्रह्म मुक्त आत्मा को लेने विमान लेकर स्वयम् आते हैं, इस प्रश्न का ठोस उत्तर यहां नहीं है। पंच वर्तमान स्वामिनारायण का बनाया शब्द है। पांच वर्तमान साधनाओं में जो आपसी कार्यकारण भाव है उस पर इस नये गुरु ने प्रकाश नहीं डाला

है। यह कहां से लिया गया है यह भी नहीं बतलाया। यह भगवद्गीता पन्द्रहवें अध्याय के एक श्लोक की छाया है। पंच वर्तमान कह देने मात्र से उद्धार सम्भव नहीं है। इस प्रकार अन्दर से शून्यता और बाहरी वैष्णवता इनकी चौथी अनोखी भक्ति है।

इनकी पांचवीं अनोखी भक्ति ज्यादा ही ध्यान देने योग्य है। इनके नये गुरु ने इन्हें इतना बुरी तरह से भटका दिया है कि अब ये सही मार्ग पकड़ नहीं पायेंगे। उन्होंने बार-बार कहा है कि मैं बैकुण्ठ गोलोक और अक्षरधाम देख रहा हूं। श्वेत द्वीप, क्षीर सागर, बदरीनारायण धाम भी मैं देख रहा हूं। वहां की सभा उपदेश और सन्तों की अपेक्षा यहां की सभा और सन्त अच्छे हैं। बैकुण्ठ आदि लोकों से यह दादा खाचर का प्रांगण ही अच्छा है। इन मेरे साधुओं से अच्छा कोई सन्त विश्व में नहीं है। बैकुण्ठ तो बहुत नीचे है जहां विष्णु के दर्शन होते हैं, उससे ऊपर है गोलोक, वहां कृष्ण मिलते हैं, किन्तु उससे भी ऊपर है अक्षरधाम जहां परब्रह्म परमात्मा अपने सारे सेवकों और उपकरणों के साथ मिलते हैं इत्यादि।

वाक्यों की आनुपूर्वी में अन्तर अवश्य है पर भक्तों के हृदय में जो भाव बने हैं और बनते हैं वे यहां लिखे हैं। त्रिपाद् विभूति में उपासना के भेद से अनेक प्रकार के लोक प्राप्त होते हैं यह तो मान्य है किन्तु वे लोक मुक्त पुरुषों के आनन्दानुभव में कोई अंतर लाते हैं या वे स्वयं ही कुछ अधिक और कुछ कम अच्छे होते हैं, ऐसी कोई मान्यता नहीं है। स्वामिनारायण ने अपने कल्पित अक्षर धाम को सबसे ऊपर देखने का दावा किया है, इससे उनके चेले राम कृष्ण आदि के उपासकों से अपने अक्षर धाम को उत्तम कहते हैं किन्तु कपोल कल्पित तामस मान्यता वालों का वहां कोई लोक नहीं होता। अक्षर धाम आदि शब्द बैकुण्ठ के ही पर्याय हैं। साकेत गोलोक आदि धाम बैकुण्ठ के ही भेद प्रभेद हैं।

स्वामिनारायण ने जो अक्षरधाम मान रखा है वह शास्त्रोक्त नहीं है बल्कि अज्ञान से कल्पित है। विष्णु द्वेषी लोग भगवान विष्णु के लोक बैकुण्ठ को त्रिपाद् विभूतियों में सबसे नीचे मानते हैं। उनकी तामस मान्यता से वहां कोई हेर-फेर नहीं होता। जो लोग यहीं भटके हैं वे वहां क्यों जायेंगे? ज्ञान अज्ञान की सारी अवस्थाओं में सारे संसारी चेतन जिस ज्ञानानन्दमय महान् तत्त्व को पाना चाहते हैं, वही विष्णु

तत्त्व है, उसका ही लोक बैकुण्ठ कहा जाता है। विष्णु तत्त्व स्वयं भी बैकुण्ठ है। ज्ञान संकोच रूपी कुण्ठा न रहने से वह बैकुण्ठ कहा जाता है। उसे मत्सरी लोग नहीं चाहते। इसी से भागवत में उसे 'निर्मत्सराणां सतां वेद्यम्' कहा गया है।

भक्ति बिगाड़ बिगाड़ बहुत से, वेष बनाये फिरते हैं।
भगवद्गीता शास्त्र न पढ़ते, वचन रचन से तरते हैं।
श्रद्धायोग्य महापुरुषों पर, ईर्ष्या भारी रखते हैं।
पहले किए गूढ़ पापों का, धोखे में फल चखते हैं।

***

ईसा मुहम्मद के सहयोगी स्वामिनारायण

हजारों वर्षों से रस्साकशी में लगी भारतीय और पश्चिमी सभ्यताओं में स्वामिनारायण ने भारतीयता का ही पल्ला थामा किंतु ऐसा थामा कि पश्चिम ही जीतने लगा है। परम कल्याणमय अनादि वैदिक दर्शन, संस्कृति और सभ्यता का अनादि पाप वासना से सहन न होने पर बुद्ध जिन आदि माध्यमों से प्रजा पाश्चात्य दर्शन, संस्कृति और सभ्यता अपनाती है। उस अमंगलमय पाश्चात्य दर्शन आदि की ही शाखा प्रशाखा ईसा मुहम्मद के और शंकर भास्कर यादव प्रकाश आदि के दर्शन हैं। कतिपय अवैदिक चिन्तन वाले अपनी प्रतिष्ठा के लिए वेदों को अपना आधार घोषित करते हैं किन्तु इतने मात्र से वे वैदिक नहीं हो जाते न उनसे किसी का कोई हित होता है।

यह अनादि विचित्र संसार केवल सामुदायिक पाप-पुण्यों की क्रीड़ास्थली है। जिस देश काल परिस्थिति में अनादि अनन्त कालात्मा परमात्मा के गर्भ से जैसी भावनाओं वाली प्रजा भूमि पर उतरती है उसके अनुरूप ही वैदिक या अवैदिक या मिश्रित दर्शन संस्कृति सभ्यता के प्रवर्तक महापुरुष भी उसके साथ आते हैं। अदूरदर्शी प्रजा अपने पास के महापुरुष के वचनों को अर्थसम्बन्धों की समीक्षा के बिना ही गोवत्स की भांति पीती रहती है। वह कभी भी वेदैकवेद्य परम पुरुष से अपने पास के महापुरुष का सामञ्जस्य देखने का कष्ट उठाना नहीं चाहती, बल्कि कभी उसे ही साक्षात् परम पुरुष घोषित करके कृतकृत्य हो लेती है। पृथ्वी पर नाना मत पंथों के उदय विकास ह्रास और नाश के ये दो ही दृष्ट अदृष्ट कारण होते हैं; एक सामयिक

प्रजा का सहज आलस्य और दूसरा उनका विचित्र प्रारब्ध भोग।

ईसा मुहम्मद के अनुयायी एजेन्ट भारतीयों के चित्त से नाना देवी-देवताओं को उतारने के लिए समय-समय पर कई चमत्कारी दम्भ पाखण्ड रचते रहते हैं। कोई न कोई मूर्ख फंसता ही है। थोड़ी सफलता से वे सन्तुष्ट नहीं हैं। कोई ठोस उपाय उनकी समझ में आज तक नहीं चढ़ा। स्वामिनारायण ने आरती-पूजा करके मंगलमूर्तियों को चित्त से उतारने का ठोस उपाय रचा है। उनके चेले अन्य देवताओं के दर्शन और प्रणाम करते हैं स्वामिनारायण को उनसे बहुत ऊपर सर्वावतारी और पूर्ण उपकारी के रूप में देखने के लिए। दर्शन के समय वे यह ध्यान करते हैं कि ये लोग हमें मोक्ष देने में सर्वथा असमर्थ थे, इससे परात्पर पुरुषोत्तम पर ब्रह्म स्वामिनारायण हमारा उद्धार करने के लिए समग्र शक्ति और सामर्थ्य लेकर पृथ्वी पर उतरे हैं। इस अर्थ में प्रमाण के रूप में अपने महान गुरु स्वामिनारायण के बहुत से वचनों को याद करते हैं। उस समय उनके चित्त से गणेश हनुमान उनके पिता और राम कृष्ण नर नारायण आदि सारे देवता धीरे से सदा को खिसक जाते हैं। फिर वे अपनी मूर्तियों में भोग आरती प्रणाम आदि स्वीकार करने भी नहीं आते। तब पत्थरों का देवालय श्मशान तुल्य भी नहीं रह जाता, वहां कोई चित्त शुद्धि नहीं होती, न कोई श्रद्धा भक्ति जैसे किसी मानस गुण का उल्लास होता है। किसी प्राकृत मानव की पाषाण प्रतिमा कोई प्रेरक नहीं बनती, वहाँ कोई शास्त्रोक्त देवता न होने से उस पर जारी किन्हीं की अंध श्रद्धा परमार्थ पथ का प्रकाश भी नहीं करती, बल्कि **अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानाञ्च व्यतिक्रमः त्रीणि तत्राभिजायन्ते, व्याधिदुर्भिक्षतस्कराः'** इस शास्त्र वचन के अनुसार वहां दुर्बुद्धि का ही विस्तार होता है। देखा जाता है कि स्वामिनारायण के बनाए साधु दूसरे किसी भद्र वेष का अभिवादन नहीं करते। वे दूसरों को पिछड़े लोगों में गिनते हैं, जब स्वामिनारायण ने ही भगवान् के सारे अवतारों को उपासना ध्यान पूजा आदि के अयोग्य समझा दिया है, तब उनके चेले किसी भी महान् रूप का आदर क्यों करें। यह बड़ा दोष देखकर ही नड़ियाद में सन्तराम ने सारे साधुओं को प्रतिदिन आदरपूर्वक भोजन कराने का आदेश दिया है। **'धर्म करे धन ना घटे'** उक्ति वहां चरितार्थ है। सारे सन्तों को भोजन कराया जाता है। भूल से कोई छूट जाता है तो उसे बाद में आदर से

बुलाते और खिलाते-पिलाते एवं सम्मान से विदा करते हैं। धन की वहां कमी नहीं पड़ती। स्वामिनारायण ने उदारता की भी सीख दी है। ब्राह्मणों के सम्मान का सुझाव दिया है। राम कृष्णादि की एवं शिव, हनुमान व गणेश आदि की पूजा प्रणाम आदि का विधान किया है। स्मार्तों के पंच देवों में से दुर्गा और सूर्य को कुछ समझ कर छोड़ दिया। नव ग्रहों को भी छोड़ा। उन्हें ही छोड़ा जिनके भक्तों की संख्या गुजरात में कम थी। उन्हें तो कांग्रेसियों की तरह अपने लिए केवल थोक वोट की भूख थी। बिना समझे इकट्ठे वोटों पर अपना एक नया सम्प्रदाय खड़ा करना उनका लक्ष्य था। सम्प्रदाय का एक गूढ़ रहस्य था कि सारे देवता और सारे अवतार व्यर्थ हैं। दूसरा गूढ़ रहस्य था कि गुजरात का उद्धार करने के लिए मैं सर्वावतारी पूर्ण पुरुषोत्तम पर ब्रह्म स्वामिनारायण आया हूं। केवल तुम्हारे उद्धार के लिए आज तक शास्त्रों के बीहड़ों में छिपा पंच तत्त्ववाद खोल रहा हूं। यह सुन पगड़ी बांधे भोले गुजराती भक्त कृतार्थ हो गए। अभी और सौ वर्षों तक गुजराती भावुक भक्त इस लाल बुझक्कड़ के पंच तत्त्व वाद पर विचार करने को तैयार नहीं हो पाएंगे। इनकी अंध भक्ति का बहुमूल्य नशा जल्द घटने वाला नहीं है।

स्वामिनारायण की खोखली स्थापनाओं पर गुजरातियों को चाहे जितनी भी श्रद्धा हो पर यदि उन स्थापनाओं से किसी का कल्याण सम्भव हो तो ईश्वर के मानस पुत्र ईसा मसीह के बाइबल से और आखिरी पैगम्बर मुहम्मद के कुरआन से भी कल्याण सम्भव है बल्कि उनसे ज्यादा ही उम्मीद की जा सकती है। वे दोनों ईश्वर का भरोसा करते हैं, स्वयम् ईश्वर बनने की धृष्टता नहीं करते। वे दोनों वेदादि शास्त्रों को प्रमाण घोषित नहीं करते पर उनके ग्रंथों में वेदादि शास्त्रों के सार उपलब्ध हैं। स्वामिनारायण वेदादि शास्त्रों की दुहाई खूब देते हैं केवल अपने चेलों को गुमराह करने के लिए। क्योंकि उन्होंने अपने चेलों को शास्त्र विरुद्ध बातें खूब पिलाई हैं। गुमराही में जीना गुजरातियों को ज्यादा पसंद है। इसी से अपने ढोंगी गुरु के खुले झूठों को भी सजाते संवारते रहते हैं। कोई गुजराती साधु चाहे तो अपने गुरु के पूर्व वृत्तांत से, जीवनी से, शिक्षा पत्री से, वचनामृत संग्रह से आसानी से पचासों खुले झूठ निकाल सकता है। अंध श्रद्धा होने से सारे झूठ सत्य ही लगते हैं किंतु विकसित सत्त्वगुण से प्राप्त विवेकमयी प्रज्ञा से झूठ का एक तिनका भी छट जाता है।

गुर्जर साधुओं की संजीवनी अक्षर ब्रह्म अपने लिए कोई नया नाम नहीं ढूंढ़ पाया। अक्षर ब्रह्म कहने से अनादि अनन्त वर्णपदवाक्यात्मक वेद राशि का बोध होता है। **'अनादिनिधनम् ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः'' वाक्यपदीय।'** कभी सारे वेदों के प्रतिनिधि प्रणव मात्र का भी बोध होता है। सभी अपरिणामी तत्त्वों को अक्षर कहा जाता है। महकाल भी अपरिणामी होने से अक्षय या अक्षर कहा जाता है। परब्रह्म सबसे अधिक अपरिणामी है, इससे वही अक्षर कहने योग्य है। उपनिषदों में उसे बार-बार अक्षर कहा भी गया है। स्वामिनारायण के चेले स्वयम् समझते हैं कि उपनिषदों में छिपा अक्षर पर ब्रह्म से हट कर आसानी से नहीं मिलता। वे यह भी मानते हैं कि स्वामिनारायण से पहले कोई उसे ढूंढ़ नहीं पाया था। यानी स्वामिनारायण से पहले हुए आचार्य और विद्वान शब्दार्थ विवेचन में इनके समान सक्षम नहीं हुए। किंतु ऐसी बात किसी गुजराती के ही गले उतर पाएगी या उस किसी कूपमण्डूक के जिसमें विद्वत्ता का तारतम्य समझने की क्षमता नहीं है। वही ऐसी बात आसानी से समझ लेगा और अपना नया पंचशिख संप्रदाय चलाएगा।

मानव मात्र के कल्याण के लिए स्मृति इतिहास पुराण परिवृंहित अनादि वैदिक सिद्धांत ही एकमात्र उपाय है। अनादि पाप वासना से दूषित बुद्धि वाले बहुत लोग वेदों से हट कर कोई नया मार्ग निकालते हैं किंतु दूसरे कुछ लोग उनसे भी नयी लीक वेदों की झाड़ियों से निकालकर दिखलाना चाहते हैं। दोनों प्रकार के ये लोग तपः पूत प्राचीन ऋषि मुनियों की प्रज्ञा में खोट मानते हैं। ऐसी मान्यता वालों के बड़े-बड़े सम्प्रदाय देखे-सुने जाते हैं। ऐसे लोगों के प्रति हमारे प्राचीन श्री वैष्णव आचार्य भगवान् से कहते हैं-

बाह्याः कुदृष्टय इति द्वितयेऽप्यपारं
घोरं तमः समुपयान्ति न हीक्षसे तान्।
जग्धस्य काननमृगैर्मृगतृष्णिकेप्सोः,
कासारसत्त्वनिहतस्य च को विशेषः॥

कोई मृगमरीचिका में दौड़ता हुआ जंगली पशुओं से खाया गया और दूसरा पानी के लिए तालाब में गलत जगह पर उतर कर मगर के द्वारा खा लिया गया, तो इन दोनों में क्या अंतर होगा।

जिन शास्त्रीय आधारों पर कोई व्यक्ति स्वयम् को पूर्ण पुरुषोत्तम

मानता है उन्हीं पर भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में '**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।**' श्लोक से सर्वत्र समान रूप से ब्रह्म दर्शन का उपदेश दिया है। ऐसी स्थिति में किसी एक मूर्ति को सर्वोपरि ठहराकर उसकी तुलना में भगवान् के सारे रूपों को नगण्य ठहराना या उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम से थोड़ा कम दर्जा देना न तो किसी भारतीय धर्म पर आधारित है न दर्शन पर। बल्कि वह भगवान् की पूजा न होकर उनका घोर तिरस्कार है। यह वह तिरस्कार है जो ईसाई मुसलमानों को ज्यादा ही वाञ्छित है। अपध्यान के साथ जारी उपचार अपचार ही होता है। देवगण अर्चकों के चित्त के माध्यम से ही प्रतिमा में उतरते हैं, उन्हें अर्चक के संकल्प में ही सारे उपचार मिलते हैं। दु:संकल्प सारे उपचारों को घोर अपचार बना देता है। गुर्जर पटेलों के जिन कर्मों ने उन्हें स्वामिनारायण से जोड़ा वे उनके सौभाग्य कभी नहीं थे। यह माना जा सकता है कि किसी दूसरे अन्य अंध-तमस में घुस रहे उन्हें उन्होंने दूसरी ओर मोड़ दिया। इनमें जिन्हें अपने गुरु की तरह ही निराधार भी नया सम्प्रदाय खड़ा और सुदृढ़ करने की धुन जारी हो वे अपनी धुन में रहेंगे ही किंतु जो आत्मकल्याण चाहते हों वे वेदादि शास्त्रों के प्रथम प्रवर्तक परमात्मा को और उनकी ज्येष्ठ मूर्ति वेदादि शास्त्रों को विश्व गुरु मानते हुए स्वामिनारायण के वचनों में जो शुद्ध शास्त्रीय अंश हों, उन्हें अवश्य स्वीकार करें और ठोस जिज्ञासा की पूर्ति अन्यत्र से करते रहें।

सर्ववेद सार सावित्री मन्त्र के देवता सविता ही परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण हैं। वे जब श्री का साहचर्य प्राप्त करते हैं तो जगदुद्धार में प्रवृत्त होते हैं और जब स्वतन्त्र रहते हैं तो जगत की सृष्टि रक्षा प्रलय करते रहते हैं। प्रणव और व्याहृतियों सहित सावित्री ऋक् उनकी सर्वोत्तम स्तुति है। स्तुतियों से प्रसन्न होने पर वे नित्य संगिनी श्री की ओर देखते हैं, उनका संकेत मिलने पर चेतन को संसार से उबार लेते हैं। श्रीहीन रक्षक नहीं, श्रीहीन रमणीय भी नहीं, श्रीहीन कोई सम्प्रदाय भी नहीं हो सकता। श्री जी जो नारायण के वक्ष:स्थल में नित्य निवास करती हैं उनका चलाया सम्प्रदाय यदि मिलता हो तो पूर्ण आदर से उसे अपना कर कोई अपनी संसार यात्रा पूरी कर सकता है।

जगत जननी जिसे चाहें वही तो साधु होता है।
जगत जननी जिसे चाहें वही तो ब्रह्म होता हैं
जगत जननी न चाहें तो विधाता बद्ध होता है।
जगत जननी जिसे चाहें वही तो मुक्त होता है।

***

पंचतत्त्व एक पंचत्व

मृत्यु के पर्याय के रूप में पंचत्व बोलते हैं। नये गुरु भगवान् के पंच तत्त्व संसारी चेतन के लिये पंचत्व से कम नहीं है। क्योंकि इस नये गुरु भगवान् ने अपने माने हुए पांच तत्त्वों में से एक का भी तर्क और प्रमाण के द्वारा स्पष्ट निरुपण नहीं किया न एक को भी परिभाषित किया। बल्कि ब्रह्म को भी व्यर्थ विभाजित करके उसकी परमार्थता उपास्यता और चेतनों की आत्मीयता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया। ईश्वर तत्त्व को माया से बना कह कर ईश्वर शब्द का अर्थ ही नकार दिया एवम् ईशावास्योपनिषद् को पूरा अनदेखा कर दिया। भोले भाले मुमुक्षु सन्तों को मिथ्या अक्षर के साथ कल्पित एकात्मता की सूचना और उपदेश देकर पढ़ा दिया कि अब तुम परब्रह्म की सेवा पूजा के योग्य हो गये हो, अब तुम मुक्त भी हो गये हो। सत्संग से और पांच वर्तमानों से विषयवासना का क्षय करते जाओ, तुम्हारे कर्म समाप्त हो जायेंगे, तब शरीर छूटते ही पर ब्रह्म परमात्मा दिव्य विमान स्वयं चलाते हुए असंख्य मुक्त आत्माओं को साथ लेकर तुम्हारे लिये नयी भागवती तनु लायेंगे, वही तुम्हें पहनाकर हाथ पकड़कर तुम्हें विमान में बैठायेंगे और अक्षरधाम में मुक्तों के संग रख देंगे। यहां मोक्ष के लिये अक्षर से एकात्मता साध चुके साधुओं को यह जानना चाहिये कि मोक्षकाल में अक्षर की कोई भूमिका क्यों नहीं होती। कि वह कौन सा सम्बन्ध चेतनों से परब्रह्म का है जिससे लेने वे ही दौड़ पड़ते हैं, इस पर वचनामृत का कौन सा प्रमाण है कि जीवन काल में अक्षर से जो एकात्मता साधी गयी होती है वह मुक्त अवस्था में बदलती मिटती या वैसी ही रह जाती है। फिर यह एकात्मता क्या है? यदि अक्षर के गुणों का अपने में आरोप मानें तो यह आरोप मौखिक होगा, भावनात्मक होगा या योगज होगा? मौखिक से कार्य नहीं होता। कोई स्वयं को भगवान् कह ले तो वह भगवान् नहीं हो जाता, भावना भी

किसी असम्भव अर्थ की नहीं होती। नित्य असंसारी विभु एवम् प्रभु से अन्यून चेतन तत्त्व के असंख्य अनन्त गुणों की कल्पना या भावना अनादि संसारी अणु जीव कैसे कर सकता है। गुणों का आरोप योग से भी असम्भव है, ऐसा होता तो मुक्ति आसान हो जाती। यदि एकात्मता अभेद भावना मानें तो अणु विभु में अभेद कौन सोच पायेगा। यदि परिमाणों को मायाकृत औपाधिक मानें तो निर्विशेष अद्वैतवाद आ जायेगा। यदि कहें कि एकात्मता सत्संगिजीवन में लिखी है, वही मान्य है तो जो लिखी है वही पूछी जा रही है, मुमुक्षु को वह ठीक से जानने की आवश्यकता है। मुक्ति का वर्णन करती हुई उपनिषद् कहती है कि 'निरंजनः परमं साम्यमुपैति' यह परम साम्य अक्षर ब्रह्म से होता है या पर ब्रह्म से। यदि अक्षर से होता है तो सेवा पूजा संसार अवस्था में अक्षर की ही क्यों नहीं करते। हम सेवा पूजा दूसरे की करें और समता दूसरे से हो यह मान्य नहीं होगा। यदि पर ब्रह्म से साम्य मानें तो संसार अवस्था में अक्षर से एकात्मता बनाने का विफल प्रयत्न क्यों करते हैं। एकात्मता तो परब्रह्म से भी उक्त कारणों से ही सम्भव नहीं है, तब नये गुरु ने यहां कौन सा नया मोक्ष मार्ग ढूंढ़ा है।

***

एक करोड़ की छड़ी

एक स्वामिनारायण मन्दिर बन रहा है। निर्माण पूरा होने जा रहा है। वहां जब स्वामिनारायण की मूर्ति स्थापित होगी तब के लिये एक भक्त ने वचन दे दिया है कि मैं स्वामिनारायण के हाथ में एक करोड़ की छड़ी पकड़ाऊंगा। ऐसा एक असाधु ने बतलाया है। उसका वचन सत्य भी हो सकता है। स्वामिनारायण के जीवन से छड़ी नहीं जुटी थी किन्तु अब बाद का भक्त उनके हाथ में छड़ी देना चाहता है। वे ज्यादातर फूल पकड़ते थे। फूल भी एक करोड़ का हो सकता था। किन्तु चूंकि भगवान् विष्णु अपने हाथ में पद्म धारण करते हैं इससे ये नये ढंग के चेले अपने गुरु भगवान् के हाथ में गुलाब भी नहीं देंगे। वे तो अब वह डण्डा देंगे जो यमराज के या काल भैरव के हाथ में शोभित हो रहा है। यदि परब्रह्म के हाथ में छड़ी का वर्णन न मिला हो तो मूर्ति से छड़ी जोड़ना सत्य से दूरी बढ़ाना ही होगा।

रजः प्रधान मानव जाति का मन सत्य से सदा ही दो तरह की दूरी बनाये रहता है। एक आदर्श से दूरी और दूसरी परमार्थ से, आदर्श परमार्थ ही होता है किन्तु व्यावहारिक परमार्थ आदर्श से भिन्न भी होता है, उसे समझना सत् परमार्थ पाने के लिये आवश्यक होता है। उदाहरण के लिये भगवान् को पाना है। वे सभी प्राणियों से प्रेम रखते हैं। स्वयम् पूरा प्रेम करने योग्य हैं, सारा ज्ञान उनमें है, विश्व के सारे प्राणी उन्हें हृदय से चाहते हैं, उनके पास जरा मृत्यु नहीं है, समग्र सुन्दरता उन में है, समग्र बल भी उनमें है, सारे विश्व के नियन्त्रण में उनकी थोड़ी ही शक्ति लगती है। शेष शक्तियां उनका आनन्द बनती या बनाती हैं। उनके अनन्त गुणों की कोई सीमा नहीं है, वे उनके आनन्द का समुद्र बढ़ाते ही रहते हैं। वे सदा हमारे हैं, हम सदा उनके हैं, सृष्टि, रक्षा और संहार वे हमारे लिये करते हैं, हमारे सारे श्वास, प्रश्वास और छोटी, बड़ी, शुभ, अशुभ, जानी-अनजानी चेष्टायें जो माया के संसर्ग से, सहज भाव से या किसी उपाधि से होती रहती हैं वे सब की सब उनके नित्य दृढ़ संकल्प के अधीन केवल उनके निरवधिक आनन्द सागर की तरंगों की दृढ़ता और ऊंचाई दिया करती हैं। उनके साथ हमारा स्वस्वामिभाव सेव्य सेवक भाव, शरीर शरीरिभाव, नियाम्य नियामक भाव और ऐसे ही अनेक अच्छे सम्बन्ध दोनों के स्वरूपों के अधीन यानी शाश्वत हैं। वे हमारे सहज आत्मीय हैं। उनका हमारा स्वरूप मिलता-जुलता है, इससे वे हमें बहुत चाहते हैं। इससे उन्हें जान लेना, पा लेना और उनके अनन्त आनन्द का अनन्त काल तक अनुभव करते रहना हमारा नैसर्गिक अधिकार और कर्तव्य है, उनसे दूर रहना, समझ न पाना, कर्मों का फल है, कर्मों का सिलसिला तत्त्व दर्शन से मिट जाता है, तब उनकी सहज आत्मीयता और करुणा हमें कल्याण पथ पर तेजी से आगे बढ़ाती है, तब हम कर्म बन्धों से सदा को छूट जाते हैं।

यह रहस्य सबकी समझ में आने और स्वीकार करने योग्य है। किन्तु सम्प्रदाय वाले इसमें अपने सम्प्रदाय की मुहर चाहेंगे। मुहर न मिलने से इसे नहीं सूंघेंगे। मुंहर मिलने पर बिना समझे इसे स्वीकार कर के अपने सिरहाने रख लेंगे। न अपनाना और बिना समझे अपनाना तुल्य होता है। सत्य से दूरी दोनों स्थितियों में बनी रहती है।

सम्प्रदाय दुर्बल दृष्टियों पर हरी पट्टी बन जाता है। दृष्टि की

दुर्बलता ही कुसंस्कारों के सहयोग से सत्य से दूरी बनाती है। तब हम न धर्म समझ पाते हैं न पाखण्ड की पहचान करके उसे छोड़ पाते हैं। तब हम चाहे जिस भी सम्प्रदाय का छाप अपने ऊपर लगायें पर कल्याण बिन्दु से हमारी दूरी अन्य संसारियों के तुल्य ही रहती है। सम्प्रदाय के चयन की अपेक्षा विवेक का विकास अधिक महत्व रखता है। कबीर दास का व्यापक सम्मान उनके विवेक से है न कि उनके नाम पर चल रहे पन्थ से। उन्होंने स्वयं को कभी भगवान् नहीं कहा पर चेले उन्हें चारों युगों का भगवान् मान रहे हैं। मानव के पूर्व संस्कार उसकी प्रज्ञा की दिशा नियन्त्रित रखते हैं। इसी से कोई स्वेच्छा से कवि कोई डॉक्टर, कोई इंजीनियर, कोई राजा और कोई चोर हो जाता है। राजा शास्त्रीय उपायों से अपराध रोकता है, जब कि चोर पूर्व संस्कारों से चोरी के कई नये उपाय ढूंढ़ लेता है। पूर्व संस्कारों ने ही स्वामिनारायण का संगठन नियन्त्रित रखा है, पूर्व संस्कारों ने ही स्वामिनारायण को उन्नीस बार स्वयं को भगवान् कहलवाया, गढडा मन्दिर निर्माण के समय उन के सिर पर पत्थर रखवाया, उनसे भगवान् होने की बात लिखित करायी। पूर्व संस्कारों ने ही 'विष्णुर्नारायणः कृष्णेवैकुण्ठो' आदि प्राचीन कोषवचन अनदेखा कराया, इसी से उन्हें विष्णु तत्त्व से ऊपर माया दीख पड़ी, उससे ऊपर कोई अक्षर मिल गया और उससे ऊपर स्वयं को पाया और घोषित भी किया। अब उनके कच्चे पक्के चेले उनके उच्छृंखल वचनों को प्रामाणिक ठहराने के प्रयत्नों में लगे हैं। इसी से सबसे पहले उनके वचनों को ही निरपेक्ष प्रमाण घोषित किया। किन्तु इनके ये प्रयत्न केवल उपहास के पात्र हैं। स्वामिनारायण ने कहीं यह नहीं कहा है कि मेरे वचन वेदवत् स्वतन्त्र प्रमाण हैं, उन्होंने तो बहुत बार अपने वचनों को वेदादि शास्त्रों का निष्कर्ष कहा है। आलसी चेलों ने निष्कर्षण के झंझट से बचने के लिये उनके वचनों को ही प्रमाण कह दिया। पूर्व सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्यों के अनुयायी ऐसा नहीं करते। वे तो मूल प्रमाण ही लेते हैं। पूर्व संस्कार बुरे होने पर व्यक्ति में कायरपन बढ़ाते हैं। सत्य से दूरी भी बढ़ाते हैं। परमात्मा न मानने का आग्रह सत्य से दूरी बढ़ाने वाले तमो गुण का ही फल है। आद्य शंकराचार्य प्रपत्तिनिष्ठ सत्यनिष्ठ विष्णुभक्त महापुरुष थे। उनकी यह निष्ठा उनके षट्पदी स्तोत्र से प्रमाणित होती है।

उनके बाद की उनकी तामस पीढ़ी ने शास्त्रविरोधी एवं विष्णुविरोधी

भावना मुखर की है। उनकी ही कुसंगति से असत् प्रेरणायें लेकर स्वामिनारायण ने अज्ञान के धनी, गुजरात में स्वयम् भगवान् बनते हुए अपने नाना अज्ञानों की धारायें प्रवाहित की हैं। वही स्वामिनारायण संगठन है जिसे संगठन वाले सम्प्रदाय कहते हैं। वास्तव में यह कोई सम्प्रदाय नहीं है। कल्याणकारी प्रामाणिक दर्शन जो किसी सत्पात्र को विधिपूर्वक उपलब्ध कराया जाता है वह सम्प्रदाय कहा जाता है। स्वामिनारायण को ऐसा कुछ नहीं मिला है। स्वयं को भगवान् कह कर उन्होंने लोगों को धोखे में रखा है। बहुतों को शास्त्रविरुद्ध मार्ग में वैसे ही चला दिया है जैसे भगवान् बुद्ध ने वेद विरुद्ध भावना वालों को अवैदिक मार्ग पकड़ा दिया।अब गुजरातियों को स्वयम् आत्ममंथन कर के यह सुनिश्चित करना चाहिए कि हमें किस आनुवंशिक अपराध के फलस्वरूप कण्ठी और तिलक से वैष्णव वेश देकर विष्णु द्रोह पढ़ा दिया गया। उन्हें इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ढूंढ़ना चाहिये कि जो पर ब्रह्म स्वयं को पुरुषोत्तम और नारायण मानता है वह विष्णु क्यों नहीं मानता। जो व्यक्ति व्याकरण और वेदान्त में प्रौढ़ होगा वह अनायास यह समझ लेगा कि ब्रह्मत्त्व का कारण विष्णुत्व होता हैं ब्रह्म यदि ज्ञानवान् होगा तो समझता होगा कि मैं विष्णु हूं, इसी से ब्रह्म हूं, अन्यथा मैं ब्रह्म भी नहीं हो पाता। मायावादियों का अज्ञानी ब्रह्म कुछ भी सोच नहीं सकता। मायावियों की संगति से सीख लेकर स्वामिनारायण ने वह जनरल स्टोर खोल रखा है जहां बीड़ी–सिगरेट व शराब है और दूध, दही, घी एवम् मधु भी है। शराब के हाथ से दूध नाप देते हैं। इन्होंने नाना सम्प्रदायों से अपनी अच्छी बातें लेकर एक नया सम्प्रदाय गढ़ने की बात तो कही किन्तु वास्तव में इन्हें अपनी पूजा की प्रबल भूख थी, इसी से स्वयं को परमात्मा घोषित कर दिया। इनमें कुछ सम्मोहन शक्ति थी इससे अपने दम्भ को कुछ स्थायित्व दे दिया। लोग इनके सामने इनकी बातों का प्रखर विरोध नहीं कर पाये। किन्तु नये भगवान् और नये गुरु के नये सम्प्रदाय की नयी किताबें नये शिक्षितों के पढ़ने को छप कर तैयार हो गयी हैं। उन्हें वे पढ़ेंगे ही, न भी पढ़ें तो नाम जानकर भी जान जायेंगे कि नये हमारे सम्प्रदाय के बहुत से प्रमाण ग्रन्थ छप गये हैं, कोई भी उन्हें पढ़ सकता है। अस्तु, सत्य का खुला विरोध प्रकट कर रहे ये ग्रन्थ अब इनके म्लेच्छों जैसे बुरे मनोरथ प्रकट करने लगे हैं। पहले ये अपने घर में सत्संग और भजन के नाम पर विष्णु द्रोह की घुट्टियां पीते थे। मन्दिर में अपने

दम्भी गुरु की विशाल मूर्ति स्थापित कर के अगल-बगल में भगवान् विष्णु की और उनके अवतारों की छोटी मूर्तियां स्थापित करके सब की समान भाव से पूजा का दम्भ रचते थे। यदि भाव समान ही था तो अपने अज्ञानी दम्भी गुरु को सर्वावतारी कहते हुए मध्य में क्यों स्थापित किया? कौन नहीं जानता कि सारे अवतार भगवान् विष्णु के ही हैं तब फिर इनका विष्णु विरोधी गुरु सर्वावतारी कैसे हो गया? यदि अज्ञान फैलाने से ही मोक्ष मिलता हो तो देश-विदेशों में बहुत से पाखण्ड मत प्रचलित हैं, उन्हीं में से कोई एक अपना लेते। नये पाखण्ड का अक्षर ब्रह्म न तो अक्षरधाम मन्दिरों से सिद्ध हो रहा है न वचनामृत के काले अक्षरों से, न वेदादि शास्त्र ग्रन्थों से, न अल्प संस्कृतज्ञ किसी साधु या असाधु के भ्रष्ट लेखों से। कोई पागल चीथड़ों को रेशमी नव वस्त्र कह कर ओढ़ सकता है किन्तु यदि वह भद्र पुरुषों पर कीचड़ डाले तो उसे प्रताड़ित होना ही पड़ेगा। भारत देश श्रीमन्नारायण के समाश्रितों का है, नारायण नामधारी किसी पाखण्डी का या उसके चेलों का या गोभक्षियों का नहीं। अपने दम्भ की स्थापना ऐसा कह कर कोई नहीं कर सकता कि हमारा गुरु बचपन में ही काशी के शास्त्रार्थ में जीत गया था। उसे तो स्वयं ही प्रमाण विद्या के बल पर शास्त्र में उतरना पड़ेगा। सत्य सूर्य पर धूल फेंकने वाले को जो गुरु मानता होगा वह उल्लू ही होगा। 'प्रज्ञानम् ब्रह्म' की घोषणा करने वाला उसे साधु मानकर अपनी पंक्ति में नहीं बैठायेगा।

***

जो मानव भी बन न सका वह क्या बनता भगवान्

यह प्रकट सत्य है कि बहुत नया स्वामिनारायण संगठन दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है। अभी तक यह भारत से बाहर 53 देशों में फैल चुका है। भारत में इसके हजारों मन्दिर बन चुके हैं। स्वामिनारायण ने स्वयं ही छः मन्दिर गुजरात में अपने जीवनकाल में बनाये थे। मजदूरों से मिलकर उन्होंने काम किये थे। अपने सिर पर विशाल पत्थर ढ़ोया था। वह पत्थर अभी भी गढडा में मुख्य मन्दिर द्वार पर है, लोग उसे प्रणाम करते हैं। सारे मन्दिरों के गर्भ गृहों में

स्वामिनारायण की मूर्ति स्थापित है। उन्होंने अपने भक्तों को ठीक से समझा दिया था कि आज के युग का तुम्हारा निकटतम भगवान् मैं हूँ, मेरी सेवा पूजा ध्यान से जो लाभ होगा वह राम कृष्ण आदि प्राचीन अंशावतारों से नहीं होगा। मैं पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम हूँ, सारे अवतार मेरे ही हुए हैं, इससे अपने ध्यान में मुझे ही रखो। नाम मेरे ही जपा करो, प्रणाम मुझे करो। भक्तों ने उनकी बातों पर विश्वास किया, माना। वह विश्वास और मान्यता अब भी पहले जैसा ही कुछ बढ़ कर ही जारी है।

भारत भूमि भगवानों के लिये उर्वरा है। वे इतने हो गये हैं कि जन साधारण की उनसे टक्कर हो जाना स्वाभाविक बन गया है। अब तो दम्भी पाखण्डी छली प्रपञ्ची लोग भी अपने स्वार्थ के लिये किसी न किसी भगवान् को अपने शो रूम में बैठाये हैं। आज यदि कोई किसी भगवान् को मानता है तो इसका मतलब यह नहीं कि वह आस्तिक या धर्मात्मा है। भगवान् को तो वह अपनी अच्छी पहचान के लिये अपनाये है। मौका पाकर वह कोई भी घात कर सकता है। घात में उसका अपने भगवान् वाला वेष सहायक होता है।

भगवान चाहे जितने भी वेष बनायें और जितनी बार भी धरती पर परमपद से पूरी शक्ति से कूद पड़ें पर मानव कभी भी अपनी अर्थनिष्ठा से हट नहीं सकता। उनके सारे उपदेशों को वह अर्थ साधन के रूप में ही अपनाना चाहता है। उनका जो जो उपदेश अर्थ नहीं पकड़ता वह उपेक्षित ही रहता है, चाहे वह कितना ही कल्याणमय सत्य हो। भगवद्गीता मरने के बाद मृतक के कल्याण के लिये दान में दी जाती है। जीवन अवधि में उसका परिशीलन अनावश्यक माना जाता है। अर्थ के स्रोतों की अधिकता और सरसता ही किसी भी संगठन में जनसंख्या बढ़ाती है। ईसाई मुस्लिम संगठन और भारतीय कांग्रेस इसके अच्छे उदाहरण हैं।

बुराई भी नहीं खलती, सुरा में हो अगर हाला।
किसी की जान भी ले लो, पिला कर एक ही प्याला॥

स्वामिनारायण की अच्छाई वही है जो गुजरात की जनता में भावुकता और कोमलता के रूप में आंकी जाती है। इसमें साधु पार्षद और हरिभक्त ये तीन स्तरों के सदस्य होते हैं। हरिभक्त धन देते, प्रचार करते और यथाशक्ति भजन करते हैं। पार्षद साधुओं की सेवा

में रहते हैं, उनके प्रति समर्पित रहना ही इनका धर्म होता है, आत्मगुणों के विकास में ये स्वतन्त्र नहीं होते। पार्षद संसार की ओर लौट नहीं सकता, यह सामान्य नियम है। सेवा से सन्तुष्ट साधु की अनुमति से साधु बनाये जाते हैं किन्तु कुछ छोटे बच्चे भी साधु बने मिलते हैं। साधु की दीक्षा की विधि 'सत्संगिजीवनम्' में है, अक्षर ब्रह्म की भावना उसमें प्रमुख विशेषता होती है।

स्वामिनारायण ने समाज हित के जो जो कार्य किये वह सब प्रशंसनीय हैं। साधु बनाये वह भी अच्छा है, ब्राह्मणों को दण्ड धारण क्यों नहीं कराया, यह समझ में नहीं आता। अयोध्या के पास जन्मे पूरे भारत में भ्रमण करते हुए अपने अनुरूप कार्य क्षेत्र की तलाश कर रहे नीलकण्ठ वर्णी को गुजरात में ही रामानन्द साधु की गद्दी मिली। इसी से गुजरात ही उनका कार्यक्षेत्र बना। यदि वे भगवान् होते तो विश्व व्यापी कार्य योजना बनाते, देशव्यापी तो बनाते ही। क्या भगवान् की यही पहचान है कि वह केवल गुर्जर क्षेत्र को ही सन्तुष्ट रखने के लिये ब्राह्मण होकर भी पायजामा पहनने लगे। संस्कृत छोड़कर गुजराती में बोलने लगे और गुजराती पगड़ी बान्ध कर परात्पर ब्रह्म पुरुषोत्तम बन जाये।

अपने अन्तर की अस्पष्ट भूख मिटाने को फिर रहे नीलकण्ठवर्णी को गुजरात के रामानन्द साधु ने अपना योग्य शिष्य पाया यह तो स्वाभाविक ही है। कोई चमत्कार न होने से वहाँ उन्हें पसन्द का कोई चेला नहीं मिला था। पुराने विरक्त मण्डली के गुरु रामानन्द की तरह ये गुजराती रामानन्द भी प्रयाग क्षेत्र के ही थे। नीलकण्ठवर्णी के पिता माता धर्मदेव और भक्ति को मन्त्र दीक्षा भी दे चुके थे। पूर्व परिचय और स्थानीयता के कारण ये अच्छे लगे और इन्हें उत्तराधिकारी बना दिया एवं गुजरातियों को इनकी महिमा बता दी।

मंत्रदीक्षा में इन्हें कृष्ण मंत्र मिला, स्वामी रामानन्द कृष्ण भक्त थे। नीलकण्ठवर्णी नाम लेकर आए थे, इससे दीक्षा का नाम नारायण मिला होगा। रामानन्द स्वामी कहे जाते थे, उनके उत्तराधिकारी ये भी स्वामी कहलाये। कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। किन्तु जब ये स्वामी कहलाये और कुछ जन्मजात चमत्कार दिखलाये तब भावुक साधु रामानन्द ने भक्तों से कह दिया कि ये भगवान् ही हैं और वह सब करेंगे जो राम और कृष्ण भी नहीं कर सके। भावुक गुजराती भक्तों

को यह बात ज्यादा ही अच्छी लगी, क्यों कि वे सामयिक कुछ महानों को नकार कर किसी नये की प्रतिष्ठा करना चाहते थे, इधर नीलकण्ठ वर्णी बन कर भारत भ्रमण कर रहे स्वयम् महान् बनने के इच्छुक इस भावुक ब्रह्मचारी को शंकराचार्य के दसनामी साधुओं ने तत्त्वमसि और अहम् ब्रह्म पढ़ा कर समझा दिया कि तुम स्वयं ही ब्रह्म हो, और यह सारे वेद वेदान्त का निचोड़ है। इस तरह मायावादी पाठ पढ़ कर कृतार्थ इस कोरे साधु ने ठान लिया कि जब मैं स्वयम् परात्पर ब्रह्म हूँ और यह सारे शास्त्रों का निचोड़ है तो मेरी ही पूजा राम कृष्ण आदि के स्थान पर होनी चाहिये, क्योंकि राम कृष्ण आदि माया से बने ईश्वर के अंश हैं जबकि मैं साक्षात् पर ब्रह्म पुरुषोत्तम हूँ। अब प्रश्न सामने आया कि पूजा निराकार की हो या साकार की, तब दसनामी साधुओं की बात ध्यान में आयी कि पूजा तो साकार की ही होती है, निराकार का केवल ध्यान होता है, उनकी यह बात इस नये भगवान् को अच्छी नहीं लगी, अपने स्थूल रूप का ही ध्यान आवश्यक समझा इससे शिष्यों को पढ़ा दिया कि ब्रह्म को निराकार मानना अपराध है।

अपनी पूजा के योग्य किसी नये भगवान् की तलाश में लगी गुजराती जनता को स्वामी रामानन्द ने समझा दिया कि ये नारायण नाम लिये नीलकण्ठ वर्णी राम और कृष्ण से अधिक कार्य करेंगे यानी मोक्ष यही देंगे तब लोगों ने इन्हें ही भगवान् बना कर पूजना ठान लिया। ये **"अहम् ब्रह्म अस्मि"** का पाठ पढ़ ही चुके थे, अपनी पूजा आगे भी होती रहे ऐसा ठान लिया और स्वामिनारायण मन्दिर बनवाने में दृढ़ता से लग गये और गुजरात में छः अपने मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठा करा कर अपनी पूजा जारी करा दी। यह महान् कार्य गुजरात में ही सम्भव था। दूसरे क्षेत्रों की जनता ऐसा पसन्द नहीं करती। किसी जीवित व्यक्ति की प्रतिष्ठा मूर्ति में भगवान् के रूप में अशास्त्रीय मानी जाती। मृत आत्माओं की भी प्रतिष्ठा का कोई विधान नहीं है। स्वामिनारायण को उनके चेले भगवान् मानते हैं उनके वचनों से, किन्तु उन्हें स्वयम् भगवान् होने का पता किसी गलत जगह पर गलत व्यक्ति से, गलत तरीके से चला है। इसी से अपनी पूजा के लिये अपनी मूर्तियाँ गढ़ाने की धुन उन्हें हुई। सोचना चाहिये कि ऐसी धुन अन्य अवतारों को क्यों नहीं हुई।

यह मानना उचित नहीं होगा कि स्वामिनारायण ने अपनी जन्मजात सिद्धियों से कुछ चमत्कार दिखला कर गुजरातियों का मन मोह लिया और वहाँ भगवान् बन बैठे। गुजराती साधुओं के ही कथन से पता चलता है कि पहले उनका कोई चमत्कार नहीं था, चमत्कारों की और शास्त्रार्थ आदि की कथायें तो बाद में गढ़ी गयी हैं। पहले उनकी रहन–सहन बहुत सामान्य थी, एक ब्राह्मण जैसी भी नहीं थीं, वे सबके हाथ का छुआ खा लेते थे, यह देख कर लोग उन्हें चमार मानने और कहने लगे। किन्तु साधु रामानन्द के द्वारा परिचय मिलने पर उनका विचार बदला और इनके जन्म स्थान पर आदमी भेज कर पता लगाया तब इन्हें जन्म से ब्राह्मण समझा गया। उस समय तक उनमें ऐसा कोई प्रभाव नहीं था जिससे उन्हें कोई महापुरुष भी समझता। उनकी जीवनी में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। मालुम होता है कि रामानन्द साधु का विश्वास पात्र शिष्य बनने के बाद ही स्थानीय लोगों ने किन्हीं परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में इन्हें परम ईश्वर बनाने के लिये कोई विचित्र माया सिरजी थी। उसका व्यापक प्रभाव देखकर ही इन्होंने अपने माने हुए पाँच तत्त्वों में माया को मध्य स्थान दिया। तब संगठन के साधु लोग जीव ईश्वर माया ब्रह्म और परब्रह्म यह पांच तत्त्व मान कर अपने नये भगवान् को पर ब्रह्म सर्वावतारी का अवतार कहना शुरु किया।

अपने गुरु साधु रामानन्द से कृष्ण मन्त्र लेकर वही चिरकाल जप रहे, कृष्ण भक्ति के उपदेश भी चिरकाल दे चुके स्वामी नारायण को गुजरातियों ने उनके जिन वचनों से भगवान् मानना शुरु किया था वे वचन उन्हें भगवान् ठहराने में पर्याप्त नहीं हैं। उनके वचनों में अभी तक कोई हेरा फेरी भी नहीं हुई है फिर भी उनके वचनों को ही एवम् उनके "जय स्वामिनारायण" ऐसे अभिवादन को आधार मान कर जो हजारों मन्दिर बने और बनते जा रहे हैं यह अनादि प्रचुर प्रकाशमय भगवद् भक्ति पर भ्रान्ति की धूल ढ़कने का कलि का एक नया घातक खेल मालुम होता है।

कोई पतिव्रता अपने पति को ही परमेश्वर मान कर पूजा करे, उसकी परिक्रमा और साष्टांग प्रणाम करे, उसका चरणोदक ले तो वह उसका महान् धर्म ही होगा, उस पर लोगों की श्रद्धा भी बढ़ेगी किन्तु यदि वह उस पर परमात्मा के लक्षण जोड़ने लगे, उससे ही सारे विश्व की उत्पत्ति और रक्षा माने फिर उससे अपने मां बाप दादा दादी की

और सास ससुर की भी उत्पत्ति बतलाने लगे तो लोग उसे पागल मान कर उपेक्षा करेंगे। किन्तु यदि वह धन खर्च करके मन्दिर बनवाये, उसमें अपने पति की मूर्ति उसके जीवन काल में ही बनवा कर उसकी पूजा शुरु करे तो उसका पागलपन चिन्तनीय माना जायेगा। और यदि वह अपने पति के पूज्य लोगों को उसके पूजक कहने लगे और यह भी कहे कि यह रहस्य मेरे पति ने ही बताये हैं तब तो उक्त पतिव्रता को अपने मृत पति के लिये भी बिना उसके अपराध के ही गालियाँ सुननी पड़ेंगी और अपनी भी तौहीनी झेलनी पड़ेगी।

पतिव्रता सी इस महिला की विपरीत चेष्टायें हिस्टीरिया से, बुद्धि के पलटने से हो सकती है, पूर्व पापों से भी हो सकती है, इसका बुरा नतीजा पति को भी मिलेगा। स्वामिनारायण संगठन की चेष्टायें ज्यादा ही विपरीत हैं और यह संगठन के लाखों लोगों के बुरे प्रारब्ध से हैं। मेरा एक अलग ही सम्प्रदाय बनेगा, ऐसा सोच किसी एक का हो या उसके अन्य कुछ सहकर्मियों का भी हो किन्तु यदि उसका बुरा परिणाम लाखों को मिल रहा हो तो उसे रोकने का दायित्व सभी बुद्धिजीवियों का होता है। संगठन के अगुओं को गम्भीरता से सोचना चाहिये कि हम अपने पूर्वाग्रह में पड़ कर अपने पीछे बहुतों को किस अन्धतमस में लिये जा रहे हैं। और यह भी कि हम जिन घटनाओं से उन्हें भगवान् मान रहे हैं वह यदि सचमुच घटी हों तो वह एक ऐसे योगभ्रष्ट की भी सकती हैं जो अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक योग से गिरता ही रहा हो जिसका अन्त एक सिद्ध योगी जैसा भी नहीं गुजर सका हो। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जिस समय देशवासी अंग्रेजी शासन समाप्त करने की तरकीब सोच रहे थे उसी समय आपको अपने लौकिक स्वार्थ के लिये अंग्रेजी शासन से अशास्त्रीय दत्तक पुत्र लेने की अनुमति लेनी पड़ी थी। उस समय राम जन्म भूमि की मुक्ति के लिये सोचा जा रहा था, देश के हजारों हुतात्माओं का संकल्प विफल रहने की टीस लोगों के हृदय में थी। उसी समय कलियुगी भगवान् स्वामिनारायण गुजरात में अपने भक्तों को यह पाठ पढ़ा रहे थे कि राम और कृष्ण दूर के भगवान् हैं, उनसे पुरुषार्थ पूरा सिद्ध नहीं हो पायेगा जबकि मैं निकटतम भगवान् हूँ, मैं सारे मनोरथ पूरा करूंगा। गुजराती साधु इस आशय का सन्दर्भ पढ़ते और स्वयं को धन्य मानते हैं। वे यह नहीं सोच पाते कि यह दूरी कैसी है काल से, देश से, या शाश्वत सम्बन्ध से। वह भगवान् कैसा होगा

जो जीवों से अपनी दूरी बतलाया करे। राष्ट्र विरुद्ध बातें स्वयं कहे।

वास्तव में परमात्मा ने यह सारा संसार जीवों के परम कल्याण मोक्ष के लिये बनाया है। यहाँ की सारी गतिविधियाँ मोक्ष मार्ग की मजबूत सीढ़ियाँ हैं। जिन सीढ़ियों से लोग ऊपर बढ़ते हैं उनसे ही दूसरे लोग नीचे उतरते हैं। सीढ़ियां दोनों पक्षों की समान सहायता करती हैं। राग का प्रत्येक साधन विवेक होने पर वैराग्य का ठोस आधार बन जाता है। इस पर विशद चिन्तन होना चाहिये। किसी दुर्विदग्ध को किसी साधु से पता चल गया कि मैं साक्षात् पर ब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम हूँ। और यही सारे शास्त्रों का निचोड़ है। तब उसे परमात्मा के अनुरूप ही अवाप्तसमस्त काम और निष्क्रिय शान्त हो जाना चाहिये था किन्तु संसार में उतारने वाले उसके पूर्व कर्मों ने उसे समझा दिया कि तब तो परमात्मा वाली सर्वोच्च सेवा पूजा मेरी होनी चाहिये। यह समझ उसकी सहज महत्त्वाकांक्षा से आयी न कि किसी शास्त्रीय स्रोत से। अपनी पूजा के लिये मूर्ति गढ़वाने और विशाल मन्दिर बनवाने का कोई विधान शास्त्रों में नहीं है। अपनी पूजा के लिये अहिंसा, दया, क्षमा, इन्द्रियजय, तत्त्वचिन्तन, श्रवण, मनन, और अपनी क्षमता के अनुसार अष्टांग योग वाली या श्रवण आदि नवधा भक्ति ये आठ प्रकार के पुष्प अर्जित करने चाहिये। प्रस्तुत दुर्विदग्ध (बिगड़ैल) को सन्तों से इन आठ पुष्पों का पता नहीं चल पाया इससे वह आज तक अपना पूजन भी हजारों मन्दिर बनवा कर भी नहीं जारी कर या करा सका। गुजरात के परम्परागत अज्ञानी लोग उसे ही गुरु और भगवान् मानते और पूजते हैं। अज्ञान के प्रति श्रद्धा के रहते ज्ञानी गुरु क्यों मिले?

इस तमोमय संसार में ऐसा व्यक्ति अत्यन्त दुलर्भ होता है जो स्वयं को संसार बन्धन से मुक्त प्राय मानता हुआ, परम सत्ता पर आत्म कल्याण के लिये निर्भर रहता हुआ, निर्भरता का आधार दूसरों को समझाने में सक्षम हो और मुमुक्षुओं की पहचान रखता हो एवं सन्मार्ग पकड़ाने में भी सक्षम हो। साथ ही उसकी दिनचर्या ऐसी हो कि उसे देखकर संसारी लोग भगवन्निष्ठ हों, भगवन्निष्ठ लोग मुमुक्षु हों, मुमुक्षु स्वरूप निष्ठ हों और स्वरूप निष्ठ लोग उस कत्तर्व्य में निष्ठा रखने लगें जो मुक्त अवस्था में भी जारी रहता हो। वैसा व्यक्ति ही मोक्ष मार्ग का गुरु हो सकता है।

वह व्यक्ति मोक्ष मार्ग का गुरु नहीं हो सकता जो अपने प्रेरक गुरु की घोषणा बार बार न कर पाये। पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम नारायण भी यदि मानव बन कर आ जायें तो अनादि गुरु परम्परा का आदर अपनी बनायी होने से करेंगे ही। वे भी अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करेंगे। गुरु का उल्लेख आदर पूर्वक ही करेंगे। ऐसा न करने से समाज से गुरु के प्रति आदर भाव के उठ जाने से मुक्ति का मार्ग बन्द हो सकता है। जिसने संसार बनाया है उसने स्वर्ग का, नरक का, संसार का और मोक्ष का भी मार्ग बनाया है। शास्त्रों से उन मार्गों का पता चलता है। मोक्ष और उसका उपाय अनादि वेदादि शास्त्रों से अनादि काल से ही या सृष्टिसमय से ही जाना जा रहा है। बीच में कोई भी महापुरुष यदि नयी भाषा में कोई उपाय उपेय बतलाते हैं तो उन्हें प्राचीन ऋषि–मुनियों, विशेषकर बादरायण व्यास की प्रज्ञा से जोड़ कर ही देखते हैं। जो लोग ऐसा नहीं करते या कर नहीं पाते उनका नया चिन्तन प्रौढ़ मनीषियों के कूड़ेदान की ही शोभा बढ़ाता है। अक्षर धाम के विशाल मन्दिर तो देखे जा रहे हैं, वहाँ तगड़ी फीस दे कर चमत्कार देखने वालों का तांता भी देखा जा रहा है। पर उस मन्दिर में स्थापित अक्षर धाम क्या बला है, उसका पता किसी को कैसे चल गया, भगवद्गीता के श्लोकों "परम्ब्रह्म परंधाम" आदि को गुजरात के नये मनीषियों ने कितना समझा यह पता आज तक नहीं चल पाया है।

स्वामिनारायण को कोई भगवान् या उनका अवतार माने तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु उन्हें पूर्ण मानव मानना उचित नहीं होगा। पूर्ण मानव में राम कृष्ण आदि की तरह पूर्ण राष्ट्रियता होती है। उन्हें गुजरात परस्त तो किसी तरह कहा जा सकता है किन्तु भारत देश के प्रति या भारत राष्ट्र के प्रति उन्होंने अपना कोई दायित्व समझा था यह प्रमाणित नहीं हो सकता। अब कोई उन्हें भगवान् माना करे तो किसी को आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि विश्व के सारे रूप पर ब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम के ही हैं। ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म या अक्षर धाम स्वामिनारायण के द्वारा गढ़े गुजरातियों के इष्ट हो सकते हैं।

(क) बनाकर मिट्टयों के देव, जब हम पूजते आये।
सुघड़ नर कोई भी तब क्यों हमें ना ईश सा भाये॥
अगर तत्त्वार्थ चर्चा की, ललक हो फलक में हिय के।
करो तब संग विज्ञों का, दुराग्रह भाव सब तज के॥

(ख) मगर! तुम जल भीतर ही होते,
तो न दुराग्रह दम्भदाढ़ यह लौहदण्ड से खोते।
देह तुम्हारी छलनी होगी, घनी गोलियाँ खा कर।
रोयेंगी प्यारियाँ तुम्हारी, किसी खोह में जा कर॥
ये काँटे हैं घने पीठ पर इनसे भी क्या होगा?
इनका तीखापन भी सोचो, कैसे किसने भोगा?
हम मानव हैं नहीं मछलियाँ, हम पर टिक न सकोगे।
मिट्टी के भी मोल कहीं भी, अब तुम बिक न सकोगे॥
अन्दर जाओ दाँत बचाओ, मेंढ़क मछली खाओ।
मानव से लड़ना मत ठानो, ऊपर कभी न आओ॥
जो मानव भी बन न सका वह, क्या भगवान बनेगा।
भूजा चना भाड़ का कोई, अंकुर कौन जनेगा॥
पत्थर तोड़ा खोह बनाया, इससे क्या होता है।
ठहरो, समझो, सत्य तोड़ना, नित अशक्य होता है॥
(ग) प्रकृतिगुणानां जाले, कर्षति जीवान् कृतेषु फलकाले।
क्व नु वृणुते हरि करुणा, समयं स्थानं विदन्ति विद्वांसः॥

***

मिथ्या महत्त्वाकांक्षा और सम्प्रदाय

यद्यपि सम्प्रदाय शब्द का अर्थ कोई महान् आदर्श होता है किन्तु मानव अच्छे भी अर्थों को स्वयं के दोषों से बिगाड़ता रहता है, इस स्वभाव से आज सम्प्रदाय कहने से जो अर्थ समझ में आता है वह सही गलत, पूरे अधूरे, विचारों भावनाओं और दिखावटी क्रिया कलापों से पहचाना जा रहा नर समूह है। नेता लोग कहेंगे कि झूठमूठ बहानों से, धर्मों से या उपाधियों से एकत्रित होने वाले लोगों का समूह सम्प्रदाय कहा जाता है। दूसरे नेता कहेंगे कि भूल भूलैया का मुरब्बा सम्प्रदाय कहा जाता है। तीसरे नेता कहेंगे कि मील का पत्थर सम्प्रदाय होता है। एक हवा मिठाई होती है, देखने में बड़ी किन्तु अपने में कुछ नहीं, उसे या वैसी ही किसी बात को सम्प्रदाय कह सकते हैं। हवा मिठाई चाहे जितना निःसार हो पर हर छोटे बड़े शहरों में बच्चों के हाथ में वह मिलेगी, हर मौसम में। उसका आदर बच्चे ज्यादा करते

हैं। लक्षण, परिमाण, मूल्य, उत्पत्ति स्थान, क्रय स्थान आदि सारी बातें बच्चे विस्तार से जानते और बतलाते हैं। वयस्कों की उस पर उपेक्षा से बच्चों को तरस आती है। किन्तु हम क्या करें, उस मिठाई की नियति ही ऐसी है कि सत्य युग से लेकर आज तक बच्चों की पकड़ से वह छूट नहीं पायी है। हर अर्थ का काल होता है, वह उसकी पहचान बनता है। काल ही किसी को नन्हा मुन्ना किशोर युवा दामाद पति मित्र साला बहनोई पिता पितामह मातामह आदि असंख्य अवस्थायें देता और असंख्य व्यवहारों में उतारता है। सम्प्रदाय का भी यही हाल है। यह हवा मिठाई की तरह हर एक अविकसित मस्तिष्क को जरूर चाहिये। देखिये न, एक समय था जब विश्व में अनादि वैदिक एक सम्प्रदाय के प्रति प्रज्ञावानों की पूरी आस्था थी। समय आगे बढ़ा, तब स्वतन्त्र सम्प्रदाय बनने लगे। तब किसी कोने से आक्रोश फैला कि यह तो स्वतन्त्र है, वेदों को मानता ही नहीं, तब स्वतन्त्रों ने अपनी खुली स्वतन्त्रता घोषित करके जैन बौद्ध हो गये किन्तु दुर्बल मस्तिष्कों ने वेदों में अपने आधार ढूंढ़ने शुरु किये और सही गलत छोटा बड़ा उलटा सीधा आधार ढूंढ़कर समाज को दिखलाने लगे। सम्प्रदाय की विशेषतायें थीं 13 और आधार मिले तीन, तब शेष 10 को उक्त तीन के ही सहारे मान लिया, ऐसे सम्प्रदाय बनने बदलने और बढ़ने लगे। किन्तु क्या मनचले मानव की मनमानी ने नित्य अदृष्ट कल्याणपथ में हेरफेर कर दिये? क्या ऐसा सम्भव है, रहा है या आगे होने वाला है? कभी नहीं। तो फिर इन नाना सम्प्रदायों की तटस्थ परीक्षा क्यों नहीं होती? होती तो है पर कभी कभी दम्भवर्ग भारी पड़ जाता है, तब वही जीतता और सत्य दब जाता है। पापियों के पाप कुमार्ग बढ़ाते हैं। जब परलोक के नाम से लोक में अपनी पकड़ मजबूत बनाना चाहा जाता है तब एक नया सम्प्रदाय खड़ा होता है, तब वेश, भाषा, चर्या, अनुष्ठान, ध्यान, ध्येय, समाधि, नयी देवमूर्ति जो अनादि नित्य मानकर सामने लायी जाती है, पूजा और प्रणाम के नये नये तरीके प्रकट होने लगते हैं, इसमें अपनी एक नयी रीति-रिवाज की स्पृहा ज्यादा होती है, सत्य से लगाव कम रहता है, भगवान् हमें चाहे कभी न मिलें पर यह प्रसिद्धि अवश्य रहे कि सन्तजी से भगवान् ने खुद आकर कहा है कि सत्ययुग आ गया है, अब पापियों का नाश शुरु हो गया है, ऐसा प्रचार अपनी मिथ्या महत्त्वाकांक्षा से होता है। अल्पज्ञ और

उदासीन लोग सुनते रहते हैं, वे आसानी से असत्यानुसारी बनते रहते हैं, ऐसे सम्प्रदाय बनते हैं। आप चाहें तो देश में फैले बहुत से सम्प्रदायों की सूची बना लें। यदि आप पिछले दो हजार वर्ष से पहले के सम्प्रदाय लें तो पायेंगे कि बहुत से सम्प्रदाय अब केवल सुने जाते हैं, उनके अनुयायी अब नहीं हैं। क्या कारण है? यही कि आज के मानव के कर्मभोगों के माध्यम पिछले सम्प्रदाय नहीं बन सकते। अब की सृष्टि नयी किस्म की हो रही है। सम्प्रदायों से अगला जीवन या परलोक सुधरे या नहीं पर प्रारब्धफल भोग तो होता ही है। जो लोग जन्मान्तर नहीं मानते वे ऐसा मान सकते हैं कि अबके लोगों की सहूलियत और परवरिश के लिये पिछले मजहब नाकाम थे, इससे वे अब मिट गये। जन्मान्तर माने बिना खुदा या रब भी मानना मुश्किल होगा यह बात जब तक समझ में न उतरे तब तक लोग न मानें यह सम्भव है। कुछ मजहब जन्मान्तर नहीं मानते, कुछ आत्मा नहीं मानते और कुछ परमात्मा नहीं मानते फिर भी दु:खों से छूटने के उपाय करते रहते हैं यह एक विडम्बना है मानवता की। मजहब, पन्थ या सम्प्रदाय कोई शौक की वस्तु नहीं है, वह तो वह वस्तु है जो चित्त पर चढ़कर स्वयं ही सो रहे सारे आत्माओं को आजान देकर जगाती रहती है। तत्त्वदर्शी पुरुष पन्थ न बान्धते हैं न किसी नकल से बन्धते हैं। कुछ लोग प्राचीनता के पक्षधर होते हैं, कुछ लोग नयी परीक्षा को मानते हैं। दोनों बातें अच्छी और एक साथ अपनाने योग्य हैं। आप स्वत: प्राप्त अनादि मानवी प्रज्ञा के सहारे आत्मकल्याण मार्ग की तत्काल पूरी परीक्षा करके जो सार निकले वह अपनाइये। अपनी प्रज्ञा को उपायों से स्वच्छ कीजिये, फिर परीक्षा कीजिये। एकता का परिधान ओढ़े सत्य आपके निकट मुस्कुराता हुआ मिलेगा। तब सारे भेद प्रभेद इस एक के ही अधूरे रूप हैं यह आप स्वयं कहने लगेंगे। अनजान, जिज्ञासु एवं चकित बनकर चौराहे पर खड़े न रहिये, न किसी चाय की दुकान को रेस्तरां मानकर खाने को बैठ जाइये, सफलता के लिये परीक्षक बनिये। परीक्षा करके किसी का भरोसा करिये।

सम्प्रदाय में परम्परावाद एक घोर आलस्य है। कोई व्यक्ति यदि अपने सर्वोत्तम सम्प्रदाय को भी पारम्परिक होने से अपनाये है तो सम्प्रदाय की अच्छाई का फल उसे नहीं मिलेगा। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने किसी क्षुद्र सम्प्रदाय की किसी अच्छाई का ध्यान रखता और पालन करता है तो वह अच्छा ही फल प्राप्त करेगा। कोई भी

सम्प्रदाय किसी अच्छाई के बिना नहीं होता और अच्छे सम्प्रदायों में भी बुरों का बाहुल्य कालवश होता ही है। मानव की जरा के समान सम्प्रदाय की बुराई अनिवार्य होती है।

जड़ चेतन गुणदोषमय, विश्व कीन करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

गोस्वामी तुलसीदास जी की उक्त वाणी का ध्यान रखते हुए आप चाहें तो सत् सम्प्रदाय के सदस्य बन लें। सत्सम्प्रदाय कहने से दो अर्थ समझ में आते हैं। पहला अर्थ है वेदोक्त **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, तदैक्षत, बहुस्याम् प्रजायेय "** इत्यादि वचन के अनुसार तत्त्वों का निर्धारण। दूसरा अर्थ है जो ज्यादा ही उपादेय है कि जहाँ से भी अच्छा अर्थ मिलता हो उसे अपना मानकर तुरन्त स्वीकार कर लेना। दूसरा अर्थ यदि हम न भूलें तो कहीं भी रहकर कोई धोखा नहीं खायेंगे। अन्यथा कहीं भी धोखा खा सकते हैं। बुरों का प्रवेश सर्वत्र सुलभ होता है।

नया सम्प्रदाय

हम कुछ संगठनों को नया सम्प्रदाय कहते हैं। किन्तु ध्यान रखना चाहिये कि नि:श्रेयस का सम्प्रदाय एक ही है और वह शाश्वत है। उसे हम मानवता या मानवीय गुण कह सकते हैं। व्यावहारिक कारणों से संगठन नये नये बनते बदलते बिगड़ते और बिखरते हैं। सत्य या कल्पित किसी अच्छे गुण का माध्यम होने से कुछ संगठन सम्प्रदाय भी कहे जाते हैं। सद् आचार्य के द्वारा सत् प्रक्रिया से सत् पात्र को मिला परम मुक्ति का हेतु कोई महान् गुण सम्प्रदाय कहा जाता है।

अपना सम्प्रदाय

त्रिगुणात्मक विश्व में मानवीय भावनायें अनन्त भेदों में बिखरी मिलती हैं। विधाता ने आज तक कोई दो व्यक्ति एक जैसे नहीं बनाये हैं। ऐसी स्थिति में जबकि **"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति"** इत्यादि श्रुति वचनों के अनुसार परमकल्याण का माध्यम कोई एक ही बिन्दु, परम मुमुक्षा मान्य है तब संसारी चेतनों को उस बिन्दु से अति निकट अति दूर और मध्यगत मानना पड़ेगा। इन विभिन्न दूरियों से संगठन बदलते हैं। दूरी के हर बिन्दु पर इष्ट, पुरुषार्थ, उसके उपाय, मन्त्र, मन्त्रार्थ, देवता, ध्येयरूप, ध्यान

विधि, प्रमाणभूत और पाठ के ग्रन्थ एवं दिनचर्या आदि एवं चिन्तन शैली में अन्तर हो जाते हैं। वे अन्तर भी उक्त एवं गम्य दो तरह के होते हैं।

ऐसे सम्प्रदाय के असंख्य भेद-प्रभेद होते रहते हैं। इनके कचड़ों से फैलते प्रदूषण रोकने का उपाय प्रकृति स्वयं करती रहती है, वह वर्तमान अधिकारी मिटाकर ऐसे अधिकारी उत्पन्न कर देती है जो उन बहुत आदरणीय सम्प्रदायों को सूंघते ही नहीं। ऐसे पुराने संगठन मिटते रहते हैं, उनके सिर की बेडौल पगड़ी जो सम्प्रदाय कही जाती है स्वयम् मिटती जाती है। जो लोग अपना अलग एक सम्प्रदाय सोचते और चाहते हैं उन्हें सार्वजनिक उपकरणों का प्रयोग बन्द करना चाहिये। उनके अपने ही उपकरण हों, मेन रोड़, थाना, अस्पताल, स्टेशन, दुकान, गाड़ी, हवा-पानी आदि अपने स्पेशल रखना चाहिये। फिर भाषा भी उनकी एकदम नयी होनी चाहिये। उनका प्रयोग भी एकदम नये लोगों के प्रति हुआ करें। क्या यह सब सम्भव है? कभी नहीं, ऐसे ही सम्प्रदाय भी अपना खास नहीं होना चाहिये। कोई पागल ही अपना नया अलग सम्प्रदाय गढ़ता है, वह कहता है कि हमारे इष्टदेव के दर्शन नहीं होते, पुजारी आँख बान्धकर पूजा करता है। दूसरा पागल कहता है कि हमारे घर के इष्ट हनुमान, गणेश और ब्रह्मबाबा हैं, तीसरा पागल कहता है कि हमारे इष्ट तो जगदम्बा काली और गणेश जी का चूहा है। पूछा कि जब गणेश जी नहीं हैं तो चूहा कैसे रह गया तो उत्तर मिला कि परम्परा से हम ऐसे ही उसे पूजते आ रहे हैं, फिर पूछा कि चूहा पत्थर का है कि धातु का तो उत्तर मिला कि धातु का जब जब बनाया गया तब तब घर में कोई अनिष्ट हुआ। तब से केवल पूजा के समय मिट्टी लाकर रखते और उसी में पूजा करके विसर्जित कर देते हैं क्या करें, कुल परम्परा का पालन करना पड़ता है।

यह सब न कोई सम्प्रदाय है न धर्म है, यह तो केवल धर्माभास है, इसका पालन जड़बुद्धि ही किया करते हैं। जो नास्तिक बन रहे हैं वे और ये आस्तिक दोनों को फल एक ही मिलना है। यहाँ पूजा करना और न करना तुल्य ही है। मानवमात्र का जो सामान्य धर्म है वह यदि अंगों से पूर्ण है तो वह सर्वोत्तम मंगलमय सम्प्रदाय है। अधूरा होने से वही धर्माभास हो जाता है। हमारे चिन्तन के हेरफेर से उत्तम धर्म ही धर्माभास हो जाता है। भगवान् राम विश्वाराध्य हैं, सबके प्रिय

सेव्य और इष्ट हैं। हम उन्हें कण्ठी बान्धकर छोटा करते हैं, दूसरे लोग तिलक से बान्धते हैं, तीसरे लोग लाल पीले कपड़ों से बान्धते हैं। हर ओर से उन्हें बान्धने का ही प्रयास जारी है। मानव बन्धन चाहता है इससे अपने इष्ट को भी बान्धता है। बच्चे को पत्थर का टुकड़ा जंच गया, उसे वह डोरी से बान्धकर खींचने लगा। स्वयं को अज्ञान और उदासी से बचाने के लिये उस उदासीन पत्थर को भी बान्धकर पराधीन कर डाला। बच्चे ने अपना बहुत कुछ अज्ञान उस पत्थर से जोड़ दिया। यही व्यवहार हम अपने इष्ट परमात्मा से करते हैं। स्वयं को शास्त्रज्ञान के योग्य नहीं बनाते, न शास्त्रों से प्रभु को समझना चाहते हैं। हम तो सपने देखते हैं कि प्रभु ने मालपुआ मांगा है, तब मालपुए का जोगाड़ करने लग जाते हैं तब बन जाता है एक सम्प्रदाय मालपुए का। यह कौन-सा सम्प्रदाय होता है? ऐसे ही सपनों के पाखण्ड सम्प्रदाय बनते रहते हैं। वास्तव में चिर शास्त्राभ्यास से होने वाली ज्ञान की संशुद्धि सम्प्रदाय कहलाती है। पाखण्डी लोग सपनों से सम्प्रदाय सजाते हैं, कभी अपने झूठे ध्यान का और कभी दर्शन का हवाला अपने अन्ध भक्तों में देते रहते हैं। पाखण्डियों पर आस्था ज्यादा ही देखी जाती है। मजे की बात तो तब होती है जब क्षुद्र लोग अपने घर की इच्छापत्री की तुलना महाभारत शान्तिपर्व से करने लगते हैं, फिर पूछते हैं कि संस्कृत पढ़ने की क्या आवश्यकता है। अबोध के महाधनी जन हरिभक्ति में शास्त्रज्ञान की उपयोगिता नहीं समझते, फिर भी घण्टा बजवाते भोग लगवाकर प्रसाद बंटवाते और सम्प्रदाय का कृत्य पूरा कर लेते हैं। छोटे बच्चे अपनी महत्त्वाकांक्षा से घरौंदे बनाते, उसमें बहुत कुछ घर के काम करते घरों जैसा ही महत्त्व देते हैं किन्तु रहते खाते पीते हैं अपने मां बाप के असली घर में ही। उनकी लाचारी होती है कि घर और घरौंदों में अन्तर नहीं कर पाते। घरौंदों को महत्त्व देना भी नहीं भूलते। वयस्क होने पर भाव में सुधार हो जाता है किन्तु हमारे ही द्वारा अति उपेक्षित सम्प्रदाय का सुधार हमारे नब्बे वर्ष की उम्र में भी नहीं होता। धर्मात्मा होने से हम संस्कृत विद्यालयों में धन डालते हैं किन्तु वहाँ की शिक्षा का रहस्य जानने का कष्ट कभी नहीं करते, स्वयम् उसके योग्य भी नहीं होते। प्रौढ़ों का शैशव बालकृष्ण ने गोवर्धन पूजा के लिये दूर किया था। हम उनका ध्यान कर सकते हैं।

एक सज्जन को गुरु मन्त्र लेना था। सुनते आ रहे थे कि मन्त्र नहीं

लेने से मनुष्य अशुद्ध ही रहता है। स्वयम् अशुद्ध कहलाते रहना उन्हें अच्छा नहीं लग रहा था। यों तो मन्त्र से उन्हें कुछ सीखना नहीं था। न अपने जीवन में कोई परिवर्तन लाना था। एक पण्डित के पास मन्त्र के लिये गये। उन्होंने खानपान में कोई शर्त नहीं रखी, यथाशक्ति मन्त्र जपते रहना, इतना ही कहा, और लोग बड़ी बड़ी शर्तें रखते थे, यहाँ सुविधा लगी, मन्त्र लेने से कोई अन्तर नहीं पड़ा। मन्त्र की एक बड़ी चिन्ता दूर हो गयी। इस तरह अर्थहीन मन्त्र देने और लेने वाले गुरु शिष्यों से भारतीय समाज भरा है, फिर भी देखिये, सम्प्रदाय हजारों हैं। कोई सम्प्रदाय तिलक से अलग है, कोई माला से, कोई इष्ट से, कोई गुरु स्थान से, कोई गुरु की स्तुति से। तत्त्वदर्शन और मुक्ति के प्रति उत्साह गुरु शिष्यों में देखा नहीं जाता पर अपने सम्प्रदाय का घमण्ड किसी से कम नहीं है। सम्प्रदायों में अति महान्, हजारों महान् शिष्यों वाले महामण्डलेश्वर, एवं जगद्गुरु पद विभूषित जो भगवान् बने हैं वे अभी मुकदमेबाजी में ज्यादा व्यस्त हैं, मोक्ष के लिये सोचने का उन्हें समय नहीं है। वे पूछने पर अपने सम्प्रदाय का नाम शान से बतलायेंगे, दूसरों से अपना उत्कर्ष समझाने से नहीं चूकेंगे। किन्तु उनसे पूछिये कि यह आपका उत्कर्ष कहाँ बसता है तो सातवें आसमान की ओर ताकेंगे। यह कितने लोग जानते हैं कि दुरभिमान, मिथ्याऽभिमान, स्वाभिमान और अभिमान के बाजार से बहुत दूर सत्सम्प्रदायों के चमकीले पड़ाव होते हैं, उनके दर्शन देवतुल्यों को ही प्राप्त होते हैं। सम्प्रदाय कोई सामाजिक या संसारी वस्तु नहीं है। गुरुमन्त्र का सूर्य अपने स्वच्छ अर्थों का प्रकाश उत्तम शिष्य के निर्विकार चित्ताकाश में फैलाता है। वह कोई बाजारू चीज नहीं होती। कहीं कोई गदहा रेंक रहा हो और वहाँ उल्टी गर्दन वाले ऊँट घूम रहे हों तो वह कोई सम्प्रदाय नहीं होगा। गुरु ने चेले से कह दिया कि तुम गीता भाष्य लिख दो, चेले ने लिखना शुरु कर दिया, फिर ब्रह्मसूत्र भाष्य भी लिखने का आदेश दे दिया। चेले ने वह आदेश भी पूरा किया। चेले ने जो लिखा वह खुद ही समझे रहा, वह समझ ऊपर नीचे नहीं फैल सका। वह गुरु गीता मूल समझने में ही अयोग्य था तब उन भाष्य ग्रन्थों से कौनसा किसके नाम का सम्प्रदाय होता। बना भी वह सम्प्रदाय कितना सारवान् होगा यह तथ्य सज्जन स्वयं समझ सकते हैं। यह तथ्य स्वीकार करने में कोई व्यवधान नहीं है कि एक अनादि, शाश्वत, पुरुषार्थ चतुष्टय समन्वयमय, वैदिक रहस्य के प्रति

रजोजनित ईर्ष्या के अभाव में कोई भी अवैदिक आगम या सम्प्रदाय नहीं हुआ है। राजस अवैदिक प्रज्ञा के धनिकों के मानस आहार के रूप में उस परमात्मा ने ही अपने संकल्प से वैसे आगम और सम्प्रदाय बनाये हैं। उन्हें सारे जन्तुओं के आहार की चिन्ता और प्रयत्न सदा रहता है। आहारार्थी अपने अपने आहार की पहचान स्वयं करते हैं। ईश्वरीय सृष्टि मानकर यदि हम सब कुछ मुँह में डालने लगें तो बड़ा धोखा होगा। कालकूट के लिये सारे देवताओं ने रुद्र से प्रार्थना की थी। वाङ्मय भी कालकूटात्मक होते हैं। गुरु के प्रति मोह से वाङ्मय में मोह घातक हो सकता है। वाङ्मयीय श्रद्धा से हुई गुरुश्रद्धा संसार नरक से उद्धार कर देती है। परम कल्याण शास्त्र ही करते हैं, वे ही भगवान् को भगवान् सन्त को सन्त और भक्त को भक्त बनाते हैं। गुर्जर देश शास्त्रों को शुरु से ही दो नम्बर पर रखने का आदी है। यही उसकी पारम्परिक बर्बादी है। जो व्यक्ति किसी संविदा के आधार पर किसी समूह का गुरु मान लिया जाता है वह परमार्थ का उपदेश दे सकता है किन्तु उससे परमार्थ निर्देशित नहीं हो सकता। गुरु शिष्यों की सामूहिकता उनके संकल्पों में शिथिलता रख देती है। शिथिल संकल्प एक शिथिल दृष्टि बनाता है वह दृष्टि मोहभंग में सक्षम नहीं होती। फिर यदि संविदा से आया गुरु स्वयं गुमराह हो तब तो उसके द्वारा शिष्य यह कभी भी कैसे कहेगा कि – **“विद्रावितो मोहमहान्धकारो य आश्रितो मे तव सन्निधानात्। विभावसोः किन्तु समीपगस्य शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य” श्रीमद्भा. ११/२९/३७।** भगवान् कृष्ण के उपदेशों से परम कृतार्थ उद्धवजी ने उक्त उद्गार प्रकट किये हैं। उद्धवजी को स्वतः आभास हो गया था कि शीघ्र ही भगवान् यदुवंश का संहार करके परमधाम पधारेंगे और मुझे उनसे अलग होकर इसी संसार में रहना पड़ेगा तब उनका वियोग सह पाना मेरे लिये असम्भव होगा। इसके समाधान के लिये उनसे एकान्त में मिले और प्रार्थना की कि मुझे भी अपने धाम में ले चलिये क्योंकि वियोग का सहन कभी सम्भव नहीं होगा। तब भगवान् ने तेइस अध्यायों में विस्तार से वे सारे उपदेश उन्हें दिये जिससे वे मान गये कि भगवान् का वियोग किसी को नहीं होता। बस उसे समझने की आवश्यकता होती है। बोध होने पर उन्होंने उक्त श्लोक से अपनी कृतार्थता प्रकट की है। तेइस अध्यायों में पचासों विषय हैं। सबका क्रम से श्रवण मनन जारी रहा और जब सारा श्रोतव्य सुन चुके तब उद्धवजी को एक ही अर्थ समझ

में आया प्रभु का सन्निधान। उक्त सन्निधान में विशेषण प्रभु थे और प्रभु के वे सारे गुणधर्म विशेषण थे जिनमें किसी एक के भी अभाव में प्रभु के द्वारा अपनी सुनिश्चित रक्षा का भरोसा सम्भव नहीं था। वचनामृतपानपरायण गुर्जरायण सन्त यदि क्षमता हो तो अपने उक्त महान् ग्रन्थ में श्रीमद्भागवत के केवल उक्त 23 अध्यायों के ही सन्दर्भ ढूंढ़ने का प्रयास करें तो स्वयं समझ सकते हैं कि हम कितने पानी में हैं। सहजानन्द ने अपने वचनों में कुछ आर्ष वचन उद्धृत अवश्य किये हैं पर उन्हें आर्ष भाव नहीं मिल पाया। आर्ष पद्धति का त्याग करने में उन्हें तनिक हिचक भी नहीं हुई। गुर्जर क्षेत्र इसके लिये उन्हें अनुकूल मिला। बिना कुछ सन्देह किये ही लोग उनकी बात मानते गये। उनके वचनों में अशास्त्रीय बातों की भरमार तो है ही मोक्ष पथिकों के लिये अनिवार्य पाथेयों का अभाव भी है। ऐसी स्थिति में उसी अस्वच्छ सलिल में डूबते उतराते प्रसन्न और कृतार्थ रहना कोई जातीय या क्षेत्रीय विशेषता हो सकती है, कोई उत्कर्ष या उत्कर्षोन्मुखता नहीं। हमारा वेदवाङ्मय अति उदार है, उसमें सब के लिये सब कुछ है, अपना पुरुषार्थ पहचान कर निकालने का कौशल महापुरुषों से प्राप्त करें, ईर्ष्या से बचें, छोटा बनकर, स्वयं को छोटा मानकर, ईश्वर के प्रत्येक रुप को साष्टांग प्रणाम का भाव बनायें, यही सबसे अच्छा, पहला और अन्तिम कल्याणपथ सम्प्रदाय है।

सम्प्रदाय है वही, जहाँ नारायण गुरुवर हैं।
श्री हैं उनके संग, विविध चेतन सब अनुचर हैं॥
नखशिख रत्न मनोज्ञ, विभाके केन्द्र भानुसम हैं।
विश्वनियामक रूप, रूप बिन अन्तर्यामी हैं॥
उनके हैं सब नेय, गेय गुण राशि सनातन हैं।
कहिये भर उल्लास, शेष हम केवल उनके हैं॥

***

गुरु का उन्माद अब चेले न झेलें

शब्द ही परब्रह्म है, उसमें अपार शक्तियां हैं, हमें आज तक बन्धनों में वही डाले है, अन्त में मोक्ष वही देगा। यह सकल शास्त्रों का सिद्धान्त है। तर्कों से भी यही ठहरता है। जिस व्यक्ति को आज हम स्वामिनारायण कह रहे हैं और पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण के

अवतार कह रहे हैं, इतना ही नहीं, बढ़ती जा रही श्रद्धा से हम उन्हें अवतार न कहकर अवतारी कहना चाहते हैं, उतने में भी सन्तुष्टि न होने से सर्वावतारी कहते हैं। उनके मुँह से निकले और लिखे शब्द बहुत हैं, वे अर्थहीन नहीं हैं। सर्व साधारण लोगों को अर्थ देते हैं, वे असाधारण लोगों को असाधारण अर्थ भी देते हैं। एक असाधारण महापुरुष के शब्द साधारण क्यों रह जायेंगे। शब्द ऊँची ध्वनि से बोल रहे हैं कि व्यक्तित्त्व क्या और कैसा है। कुछ लोग अतिशय श्रद्धा से चाहे कुछ भी मानें समझें लिखें और बोलें पर सामान्य लोग तो सामान्य नियम का त्याग नहीं करेंगे। वे उनके एक एक शब्द को तौल चुके हैं। शिक्षापत्री उनके व्यक्तित्त्व का छायाचित्र है, वचनामृत उसी का विशाल छायाचित्र है। उनका छायाचित्र पकड़ में है, अब वे दूर गगन तक नहीं उड़ पायेंगे। उनकी जन्मपत्री भी है, सम्भव है कि उनका वास्तव जन्म समय अज्ञात हो, चेलों ने झूठमूठ समय गढ़ लिया हो, किन्तु जब वे समय मान रहे हैं तो दूसरे लोग अस्वीकार क्यों करेंगे। उनका जन्म समय भी उनका परिचय दे रहा है। किसी को भगवान् कहकर भी उसके जीवन के सारे पहलुओं को बदला नहीं जा सकता।

***

भगवान् कैसे हुए

गुरु ने इन्हें सहजानन्द नाम दिया है एवम् आदर भाव से नारायण कहकर सम्बोधित किया है। यह प्रथा शांकर सन्तों में प्रचलित है, गुरु रामानन्द शांकर ही थे, स्वप्न में उद्धवजी के मिलने से भी शांकर होने में कोई बाधा नहीं है। स्वप्न या जगते में भी औरों के मिलने से भी प्रकृति नहीं बदलती। उस समय गुर्जर में एक भगवान् की बड़ी आवश्यकता थी। नाना दम्भी पाखण्डी जब समाज को स्वार्थवश क्षति पहुँचा रहे थे तब उनकी गतिविधियां रोकने में कोई भगवान् ही सफल हो सकता था। बनावटी भगवान् से ही काम होना था। असली भगवान् तो स्वेच्छा से मिलते हैं। तब कुछ लोग चेले बन गये और इन्हें गुरु भगवान् कहने लगे। बाद में केवल भगवान् कहते रहे। ऐसे बहुत दिन चला। तब चेलों ने ज्यादा प्रभाव न देखकर प्रभाव बढ़ाने के उपाय के रूप में इनसे स्वयं को सर्वावतारी भगवान् घोषित करने को कहा। चेलों पर निर्भर गुरु करते ही क्या? चेलों के मन की कहने लगे। इससे

इनका प्रभाव बढ़ने में सहयोग बना। अब इनका एक विशाल दल बन गया। बहुत से स्वयंसेवी साधु बने, समाज का सुधार जारी हुआ। दम्भ पाखण्ड के धन्धे दबने लगे। उत्साह बढ़ा, तब भगवान् का मन्दिर भी बनाकर पूजने की बात सामने आयी। सुधार स्थायी चाहा गया था। सम्भव है कि दम्भ पाखण्ड का गिरोह बहुत व्यापक रहा हो, अहिंसक उपायों से ही सुधार चाहा गया हो, इसी से नये भगवान् के नये अनेक मन्दिरों की आवश्यकता मालुम हुई। दूर दूर तक एक साथ छः मन्दिर बनवाने और धन संग्रह एवं विनियोग का संकल्प विशाल क्षेत्र व्यापी आवश्यक योजना से ही सम्भव था। गुजरात के लोग यह रहस्य अभी भी जान रहे होंगे। किन्तु दूसरे पक्ष की चर्चा करना अच्छा न मानते होंगे।

सहजानन्द की भाषा से उनके शास्त्रज्ञान सेवाभाव ऐश्वर्य और प्रभाव का पता चलता है। उन्हें भगवान् मानकर पूजना एक योजना के अधीन था और है। उनकी पूजा से दूसरी दम्भपूर्ण पूजायें रुकी हैं और समाज को व्यर्थ अहित से बचाया गया है। इनके भगवान् होने और माने जाने का यही रहस्य था। स्वामिनारायण के पक्षधरों को इस रहस्य का ध्यान रखना चाहिये। अन्यथा वे अपने पूर्व पक्ष से भी ज्यादा घातक भूमिका में आकर भारी हानि उठायेंगे। "स्वामिनारायण दर्शन" नामक निबन्धसंग्रह छपवाने वाले अक्षरधाम वाले शायद अपना अतीत भूलकर अपनी सफाई का प्रचार करने लगे हैं इससे सम्भव है कि वे दो पाटों के बीच दबकर समाप्त हो जायें। काल बहुत क्रूर होता है। रक्षा सत्य से ही होती है। नये भगवान् वालों को अपना वह सत्य सदा ध्यान में रखना चाहिये जो इनके उदय का मूल है। मूल भूलने पर अपना फूल फल सब कुछ लुप्त हो जाता है। इनके नये संगठन का मूल सहजानन्द ही रहे हैं जो अब स्वामिनारायण कहे जा रहे हैं। वह मूल जिस उर्वरक में विकसित हुआ है, वह निर्विवाद रूप से ध्यान में ही रहे तो श्रेय प्रेय प्राप्त होंगे अन्यथा दोनों का घात होगा। विश्व के सारे मनीषी विश्व का मूल कारण एक ही मानते हैं। सहजानन्द ने दो माने हैं और कह दिया कि वेदों में लिखा है। सहजानन्द ने यदि वेद पढ़े हैं तो चेले क्यों अनपढ़ रह रहे हैं। वह वेद वाक्य क्यों उद्धृत नहीं करते जिसमें दूसरा ब्रह्म दीखता है, श्रुति प्रकाशदास को जो मिला है उस पर वे कितना भरोसा रखते हैं यह उन्हें स्वयं समझना चाहिये। मूढ़ों को महामोह में डालना शिक्षा का फल नहीं होता, वह तो दम्भ

का फल माना जाता है। गुर्जरों का यह नया भगवान् वाणीमात्र से भी प्रणाम के योग्य नहीं है। क्योंकि इसने झूठमूठ का एक नया ब्रह्म खड़ा करके उसका अवतार भी बतला दिया और अब उसकी व्यर्थ पूजा जारी है। इस तरह पूज्यहीन पूजा प्रेत पिशाच लेते हैं और पूजकों को अनर्थों से जोड़ते हैं यह तथ्य गुजरात में भी फैला होगा। सहजानन्द और मूलशंकर के नाम बदलकर मूर्ति स्थापित करके जो पूजन और प्रणाम आदि जारी है वह आज वास्तव में किसे मिल रहा है यह निर्णय किस आधार पर सम्भव है। पहले जो जारी हुआ वह आज भी जारी रहे इसका क्या तुक है? रात में जलाया गया दीप दिन में भी क्यों जले यह सोचना चाहिये। दिन में सूखने को डाला गया कपड़ा माघ की रात्रि में भी डाला रहे यह कौन समझदारी होगी। गोबर या मिट्टी को देवता मानकर पूजते हैं बाद में उसे विसर्जित कर देते हैं। सहजानन्द ने चेलों के अनुरोध पर किसी उद्देश्य से स्वयं को भगवान् कहा था वह उद्देश्य यदि अब न रह गया हो तो अब उनको भगवान् मान कर प्रणाम करने की क्या आवश्यकता है। विवाह के अवसर पर जूते पर कपड़ा ढ़क देते और देवता कहकर वर से प्रणाम कराते हैं, प्रणाम के बाद बड़ी हंसी होती है। दुबारा वह ऐसी भूल नहीं करता। जूता कभी देवता नहीं होता, इन्सान कभी भगवान् नहीं होता, भले वह अक्षरधाम देखने का दावा करे। कोई वर गुजराती भी हो सकता है, कपड़ा ढ़के जूते को बार बार प्रणाम कर सकता है जिस किसी को भगवान् मान सकता है। हर किसी को भगवान् माने तब तो ठीक है, पर जिस किसी को माने और बाकी को न माने तो वह अपराध होगा। जूते को प्रणाम करने का धोखा भी होगा। यहाँ यह सोचना चाहिये कि जूते को प्रणाम पैर वाले को प्रणाम क्यों न माना जाये, वैसे ही जैसे पैर का प्रणाम पैर वाले का ही होता है। अगर हम ऐसा मान सकें तो चाहे जिसे भी प्रणाम करें वह भगवान् ही ठहरेगा। जैसे किसी कंटीली झाड़ी को प्रणाम करें तो वह जो अभी झाड़ी है वह आगे पीछे हाथी, बाघ, सुअर, शेर भी रहा होगा या बन जायेगा। अभी झाड़ी के रुप में भी उसकी बहुत उपयोगिता है, समझ कर ही प्रभु ने उसे बनाया है। प्रभु की सृष्टि को सिर झुकाना प्रभु के लिये ही झुकाना है। प्रभु को हम न भूलें और सारे जड़ चेतनों को प्रणाम करते चलें तो महान् पुण्य होगा। विस्मरण से बचना ही योग साधना है। स्मरण जारी रहेगा तो प्रणाम भी होगा। प्रणाम दो तरह का होता है, एक भगवान् को, दूसरा

पिता भाई मित्र आदि को। मुसलमान दूसरों को प्रणाम नहीं करते। प्रियजनों से मिलने पर परस्पर के लिये अल्लाह को ही झुकते हैं। श्री वैष्णव सन्तों के यहाँ जब कोई सम्मान योग्य व्यक्ति पहुँचता है तो उसे पहले भगवान् की प्रतिमा के पास ले जाते हैं। वहाँ भगवान् की आरती उतारते हैं, कुछ भोग लगाते हैं, फिर स्तोत्र पाठ करके साष्टांग प्रणाम करते हैं। आगन्तुक भगवान् को पहले ही प्रणाम करता है। प्रणाम के बाद उसे आरती देते हैं, चरणोदक देते हैं और प्रसाद देते हैं। यही सन्तों का शिष्टाचार होता है। साष्टांग प्रणाम को मुसलमान थोड़ा बदल कर करते हैं। उसे सिजदा कहते हैं। श्री वैष्णवों का शिष्टाचार वही होता है जो मुसलमान अधूरा करते हैं। कोई सज्जन मिले और यदि भगवान् न मिलें तो उसकी सज्जनता पर ही प्रश्न खड़ा होगा। भगवान् मिलें और उनकी संक्षेप से भी पूजा और प्रणाम न हुआ तो भगवान् का मिलना हमारे द्वारा ठुकरा दिया गया। कितनी बड़ी भूल होगी? श्री वैष्णव भूल नहीं करते। नये और दूसरे भगवान् वाले अपने घर का शिष्टाचार स्वयं समझते हैं। इन लोगों से बाहरी लोग पूछते होंगे कि तुम्हारा यह नया भगवान् अपने जन्म से पहले समाज के संज्ञान में था या नहीं? वे उत्तर देंगे कि रामकृष्ण आदि अवतारों की तरह समझो। उस पर पुनः बात आयेगी कि राम और कृष्ण की उपासना शाश्वत है, उनके अवतार से पहले भी उनका सम्प्रदाय जारी था। विपुल साहित्य रहे हैं, ऐसे ही नरसिंह वामन आदि अवतारों की भी बात है। केवल तुम्हारे इस नये सर्वावतारी के अवतार के बारे प्रश्न आता है कि पुराणों में इस सर्वावतारी के अवतार की चर्चा न होने से मुमुक्षु जन अवतार से पूर्व में उपासना कैसे कर पाये होंगे, पहले वालों को मुक्ति कैसे मिली होगी?

वास्तव में यह अवतार कृष्णलीला प्रदर्शन में हुए कृष्णावतार की ही भाँति केवल तात्कालिक है। इसका कोई शाश्वत महत्त्व नहीं है। गुर्जर साधुओं को अपना यह मोह अपने से ही मिटा लेने में हित है कि यहाँ कोई भगवान् आये थे, कुछ नये उपदेश दिये हैं, कोई अक्षरब्रह्म आया था। उसका सिलसिला जारी है, इत्यादि। आज देश में जब राम और कृष्ण के वंश का ही पता नहीं रह गया है तो इस तथाकथित पूर्ण पुरुषोत्तम और अक्षरब्रह्म की ही कौन सी परम्परा चल रही है। यह तो केवल उन्माद फैलाने का आधार है। देखा जाता है कि कपड़े रंग जाने के बाद साधु लोग ब्राह्मणों का आदर तो नहीं ही

करते, उनसे अनुचित सेवायें लेने लगते हैं। उन्हें साधु बनने का कोई पागलपन छा जाता है। साधुता का नशा ज्यादा ही घातक होता है, सर्वत्र देखा जाता है। किन्तु जहां दम्भ ज्यादा होता है वहाँ नशा भी ज्यादा ही होता है। ये बिना तम्बाकू के नशे से लोक मर्यादा का बहुत ही लंघन करने लगते हैं। देखा जाता है कि कपड़ा रंगकर कोई साधु ब्राह्मण के ऊपर अपना पैर रखने लगता है, कहता है कि मेरी सेवा करो, साधु की सेवा से धर्म होगा, नहीं करोगे तो पाप होगा, अशिक्षित विप्र पाप के डर से उसके पैर दबाना शुरु करता है। आगे वह आगे की भी बहुत सी सेवायें जारी करता है। रंगे सियार को अपने से श्रेष्ठ मानकर सियारों ने गुरु मान लिया था। ऐसे ही किसी कपट साधु को कोई अनपढ़ व्यक्ति श्रेष्ठ पूज्य और गुरु मान लेता है। किन्तु आत्मकल्याण के प्रति सावधान व्यक्ति को सदा यह ध्यान रहता है कि कोई व्यक्ति भ्रम में पड़कर मुझे महान् न मान ले। दूसरे की भ्रान्ति भी अपना पतन करा देती है, मिथ्या अभिमान बढ़ा देती है। जन्म लग्न से एवं जन्म के बाद की सारी गतिविधियों से सहजानन्द एक संसारी चेतन ही ठहरते हैं, इस तथ्य पर स्वयं ही गुजरातियों को गौर करना चाहिये। ऐसी स्थिति में जो उन्होंने स्वयं को बार बार परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण घोषित किया वह मायावादी छाया में मिले मिथ्या एकात्मवाद के भरोसे ही था। शांकर मत को दूसरों ने सिरे से खारिज किया है। उसके विरोध में असंख्य प्रौढ़ ग्रन्थ उपलब्ध हैं, यह तथ्य सहजानन्द समझ नहीं पाये। अपनी नासमझी में ही भगवान् बन गये। अनपढ़ चेलों को उलटा सीधा उपदेश देकर एक नया सम्प्रदाय गढ़ लिया। स्वयं को कोई न समझे तो दूसरे हजारों को धोखा हो ऐसा भी होता है। गुजरात इसका अच्छा उदाहरण है। बल्कि ऐसा समझना चाहिये कि हम अपने अज्ञान की सन्तान इतना बढ़ा सकते हैं कि और सन्तान की उतनी कल्पना भी असम्भव है। देश के बहुत से बिखरे बेमेल सम्प्रदाय मानवीय अज्ञान की ही तो सन्तान है। यहाँ मजे की बात यह है कि इन्सान को अपने अज्ञान पर ही बड़ा नाज है। अपने अज्ञान की शाखा प्रशाखा बढ़ाने में इसकी लगन जितनी है उतनी अज्ञान मिटाने में नहीं है। किसी या किन्हीं के अनुरोध पर कोई खुद को भगवान् कह बैठे, फिर भगवानों में भी बड़ा, उसमें भी सबसे बड़ा, फिर एक और छिपा भगवान् जो माया से बहुत ऊपर है, उसका भी अवतार, उसके बाद भी अवतारों का सिलसिला। यही कहा गया

एकान्तिक धर्म। यदि यह एकान्तिक धर्म है तो एकान्तिक पाप क्या होगा? शास्त्रीय आधार के बिना ऐसी कल्पनायें क्यों? क्या इसी लिये कि शंकराचार्य के चेले सारे मूढ़मते सब कुछ सुन सह मान लेते हैं? ऐसा नहीं है। बतलाना होगा कि यह निरक्षर अक्षर परम्परा कहाँ से क्यों चली है। यह कौनसा लौकिक या तान्त्रिक सम्प्रदाय है। तुलना बाद में होगी। पहले अपना अस्तित्व तो जताओ। एक को गुरु बनाया, उसके द्वारा कहलवाया कि मेरा अवतार अज्ञानरूपी माया के नाश के लिये है। फिर उससे बे सिर पैर के उपदेश जारी कराये। एक दिन गुरु चुपचाप चल बसा, बस हो गया अज्ञान रूपी माया का नाश? गुरु को ज्ञान कैसे हुआ, पूछो मत, पाप लगेगा, यह अक्षर सम्प्रदाय है। जहाँ कोई पूछने वाला नहीं होता वहीं सम्प्रदाय नामक विफल वृक्ष पनपता है। चेले जो अपने गुरु के साथ हुए दूसरों के शास्त्रार्थ की चर्चा करते हैं वह ज्यादातर फर्जी रहता है। शास्त्रार्थ लिपिबद्ध होना चाहिये। पहले तो इन निरक्षर साक्षरों को अपने रामानन्द सहजानन्द शतानन्द गोपालानन्द की प्रतिमायें बनाकर सौ दो सौ वर्षों तक पूजना चाहिये। फिर उनमें शास्त्र प्रज्ञा का पता लगाना चाहिये। ये कुछ संस्कृत समझते थे, कुछ पद्य रचना भी कर लेते थे किन्तु प्रमाण की भाषा समझने लिखने में सक्षम नहीं थे। उनकी भाषा यह तथ्य दे रही है इनके भरोसे एक नया सम्प्रदाय केवल ईर्ष्या असूर्या स्पर्धा के भावों से खड़ा करने का उत्साह उनकी बालकेलि से अधिक कुछ नहीं है। प्राज्ञजन आत्मकल्याण के उपाय समझने और अपनाने में अपनी प्रज्ञा का सदुपयोग करते हैं। महान् पुरुषों के प्रति ईर्ष्या और परमात्मा के प्रति उपेक्षा रखकर कल्याण का नया मार्ग रचने और दिखलाने की धृष्टता नहीं करते। किन्तु यदि कोई स्वयम् भगवान् ही बन जाने की धृष्टता कर चुका हो तब तो वह अलग अपने पञ्चतत्त्व और अक्षरधाम बतलायेगा ही। मैं मोक्ष दूंगा ऐसा कहेगा ही। अत्यन्त नास्तिक होने से वह कुछ भी कह सकता है। वास्तव में कोई अत्यन्त नास्तिक नहीं होता। भगवान् से भय सब को होता है। स्वयं को भगवान् कह रहा भी व्यक्ति अपने अपराध का दायित्व परिस्थिति पर छोड़ता है। सहजानन्द के उपासकों को उनके आत्यन्तिक कल्याण के लिये उनके आदेश के ही अनुसार श्रीमद्भागवत का पारायण और प्रवचन प्राज्ञों से सदा कराना चाहिये। गोकर्ण जैसा वक्ता जब तक न मिले तब तक पापों का सिलसिला

रहेगा ही। चेलों को गाँठ बान्धे रहना चाहिये कि इस गुरु ने गीता और भागवत के विरुद्ध बहुत सी ऐसी बातें कही हैं जो निरय के द्वार ही हैं, दूसरा कुछ नहीं है। वचनामृत को तर्क प्रमाणों की छननी से छान कर जो कुछ सार मिल पाये केवल वही साधु लोग पियें तो कुछ हित सम्भव होगा। आँख मून्दकर उसे बाँचते रहने से जो लाभ मिलेगा वह अक्षरधाम कहा जा सकता है किन्तु वह मोक्ष का स्थान कभी नहीं होगा। वचनामृत मोक्ष का समग्र उपकरण प्रस्तुत नहीं करता, मोक्ष विरोधी अर्थ भी परसता रहता है। इससे नये रंग के गुर्जर सन्तों को ध्यान में रखना चाहिये कि हमारे गुरु देशकाल परिस्थितियों के अधीन रहते हुए ही कुछ भी कह पाये हैं। अन्य आचार्यों की भी यही स्थिति रही है। किन्तु मोक्ष मार्ग कभी भी सामयिक विशेषों के अधीन नहीं होता। नर की वाणी को व्याकरण आदि शास्त्रों से और वेदवाणी को भी व्याकरण आदि के अतिरिक्त सद् आचार्य के वचन से भी मिलाकर लेना चाहिये। कान फूंकने वाले गुरु और आंख कान दोनों बन्द रखने वाले चेले दुर्गति के ही भागी होते हैं।

मोक्ष के ही हेतु जग सारा बना है,
भोग में केवल सुजन यह मत गवाँओ।
एक गुरु हैं ब्रह्म शिव को बोध देते,
और हमको भी सुजन मत अन्य लाओ।
सम्प्रदाय अनेक हैं, यह भूल जाओ,
एक ईश्वर के महागुण नित्य गाओ।
एक ही गुरु एक ईश्वर, सृष्टि करता,
पाप हरता है वही, वह मुक्त करता।
ईश की भाषा समझकर गुरु बनेंगे,
नहीं तो तापस सभी हटकर छटेंगे।
छट चुके जिन, सुगत, ईसा, मुहम्मद भी,
भूल निजघर ढूंढ़ते कुछ राह अब भी।
तुम न उनका संग करना, शान्त रहना,
नाम हरि के बहुत से हर रोज कहना।
रूप सारे उन्हीं के हैं नाम भी तो,
नये से है कौनसा अब काम भी तो।

जय जर्नादन जय गजेन्द्रोद्धार कर्ता,
कृष्ण जय तुम द्रौपदी के कष्टहर्ता।
परीक्षित् की करी रक्षा, धन्य हो तुम,
पापियों को घुमाते हो धन्य हो तुम।
हम भला, भूलें तुम्हें कैसे, समझ लो,
झाड़ियों में भी भले तुम खुद उलझ लो।
कृष्ण हो, गोविन्द और मुकुन्द हो तुम,
राम सन्मति धाम अति निष्काम हो तुम।

***

गुरु या शास्त्र

गुरु का भी कल्याण चाहता भक्त शिष्य है,
भटकन भी गुरु की हर लेता साधु शिष्य है।
किन्तु अज्ञजन धोखे में गुरु को बिगाड़ते,
गलत पैंतरा में लाकर उसको पछाड़ते।
गुरु की भाषा समझ शिष्य शुभ फल पाता है,
गलत समझ से वही बड़ा धोखा खाता है।
गुरुहित प्रथम, वचनभाव पीछे लेता है,
स्वार्थों को वह अवसर बहुत बाद देता है।
शिष्यों के शुभकर्म परमपद गुरु को देते,
उनके पाप मिला उत्तम पद भी हर लेते।
चेलों को धोखे में डाले वह न तरेगा,
स्वेच्छाचारी बिना शास्त्र के आप मरेगा।

सम्प्रदायों की विविधता में स्वेच्छाचार का बहुत योगदान रहता है। केवल देखा देखी से भी मानव बहुत दलों में बंटता है। वे दल सम्प्रदाय कहे जाते हैं। सम्प्रदाय आस्था के केन्द्र हो जाते हैं कभी कभी केवल मानव की मानस अकर्मण्यता से। पेड़ पर दो चीथड़े देखकर किसी ने मान लिया कि यहाँ वस्त्रदान का विधान है। तब से पेड़ कपड़ों से भर गया। यह हुआ पेड़ का सम्प्रदाय। कहीं नदी तट पर बच्चों ने बालू ऊँचा किया। वहाँ बेल का पत्ता भी मिल गया। लोगों ने मान लिया कि यहाँ शिवार्चन करते हैं, नहीं करने से दोष

होता है। बस इतने से बन गया परम्परागत कट्टर शिव सम्प्रदाय या शैव सम्प्रदाय। ऐसे बहुत से उदाहरण समाज में भरे पड़े हैं। अज्ञान के महान् प्रभाव से सम्प्रदायों की कमी नहीं है। इस तरह बहुत से पुराने सम्प्रदाय भी ठोस आधार के अभाव में नाम मात्र से अलग हैं। वे मिल जायें तो दोनों या अधिक पक्षों का हित ही होगा। मिलने से पहले भी वे दल अपना अपना हित करते ही हैं।

ईश्वर गुरु आत्मा और शास्त्र में एकता एकवाक्यता या मतैक्य होना चाहिये। चारों अनन्त हैं, इसी बहाने से चारों में एकता नहीं बनती। व्यावहारिक अंश सान्त ही होता है इससे एकता होनी चाहिये। जब मानव निजी कारणों से अलगाव बनाता है तो कोई सम्प्रदाय भी पकड़ लेता है। मांस छोड़ना मुश्किल होने से कोई स्वयं को शाक्त कहता है, जबकि वह शक्ति का माने भी नहीं जानता। नशेबाजी में आकर्षण होने से स्वयं को शैव कहता है जबकि शिवभक्ति नशा छुड़ाती है। शिव माने कल्याण होता है, नशे के साथ कल्याण का कोई लगाव नहीं। ऐसे भी भैरव हनुमान सूर्य गणेश आदि की आड़ लेकर लोग अपना अपना सम्प्रदाय बांटते रहते हैं।

सम्प्रदाय बाँट करके खलकुल, ईर्ष्या, असूर्या, मत्सर, स्पर्धा, आदि भावनाओं से ग्रस्त होने से विरोध और व्यर्थ के भेदवाद फैलाना शुरु करता है। वह यह नहीं समझ पाता कि शुद्ध सत्य पर आश्रित सम्प्रदाय भी सामयिक माया मत्सर आदि दोष मिलने से स्वयम् असत्य के दर्जे में पहुँच जाता है। समाज की दृष्टि से गिरना बहुत ही आसान होता है। भगवान् कृष्ण को भी स्यमन्तकमणि का दोष लग गया था जिसे छुड़ाया तो उन्होंने बहुत प्रयत्नों से, किन्तु वंशनाश का बीज साम्ब के रूप में उन्हें उसी मार्ग से मिल गया। इस जगत में सदा उज्ज्वल बने रहना ईश्वर के लिये भी उतना ही कठिन है जितना गगन को सदा निराकार, शुद्ध, स्वच्छ और अनन्त बने रहना। ऐसी स्थिति में जबकि नये सम्प्रदाय का आधार बनता ही नहीं, गलत आधारों पर ही नये सम्प्रदाय बनते हैं, विवेकी महापुरुष को किसी भी बाद के सम्प्रदाय का पक्षधर न बनना ही उचित होगा। पुराना भी अवैदिक सम्प्रदाय एक दिन बाद का ही रहता है नया गढ़ना तो पाखण्ड ही होता है। पुराना पाखण्ड थोड़ा दब जाता है फिर भी छिपता नहीं। वेदवेदान्तपारंगत व्यक्ति ही किसी भी सम्प्रदाय की समीक्षा परीक्षा

और मूल्यांकन कर सकता है। नया सम्प्रदाय गढ़ने से बहुत अधिक कौशल अपेक्षित होता है उसके मूल्यांकन में।

अलग अलग सम्प्रदायों में बंटे रहना मनुष्य की नियति है, वह अलगाव स्वयम् पसन्द करता है, उसके लिये बहाना चाहता है। एकता महान् आत्माओं का लक्षण होता है, वे भेदों को मिटाकर हिततम अभेद चाहते हैं। जगन्नाथपुरी में भगवान् जगन्नाथ का प्रसाद एक पंक्ति में सभी लोग पाते हैं वहाँ भेद मान्य नहीं है। शराब की दुकान में बिना पंक्ति भेद के ही सब पीते हैं। किसी कांग्रेसी महान् के मरने पर वेद, बाइबल, कुरान का समान भाव से पाठ होता है। भेद मान्य नहीं होता। तीनों दृष्टान्तों में से प्रथम में भक्ति का अभेद ध्येय है, दूसरे में स्वयं को भूलना चाहा जाता है, तीसरे में स्वार्थ की राजनीति के लिये सत्य की उपेक्षा होती है। साम्प्रदायिक भेद के उपासक अपने सम्प्रदाय के अभेद की भी रक्षा नहीं कर पाते। घड़ा फोड़ने वाले जोड़ नहीं सकते, स्वयं को चाहे कुम्हार का बाप ही कह लें। देश में जितनी भी राजनीतिक पार्टियाँ हैं वे सब की सब कल्पित आधारों पर हैं, उनका कोई ठोस आधार नहीं है, शासन तन्त्रों की कुशलता और पारदर्शिता अकथनीय है। राजनीति जगत् में भेद भरने वाला मानव ही धर्म क्षेत्र में सम्प्रदायभेद भी रचता है। कहीं नंगा नाच कर चुका व्यक्ति कहीं पर सभ्य जैसा नाच भी दिखलाता है किन्तु गीत के ताल स्वर मिलते जुलते हैं। आज समग्र मानवता के सुधार परिष्कार संस्कार की आवश्यकता है। इसके लिये शिक्षा तन्त्र का नवनिर्माण अपेक्षित है। अभी सारा शिक्षा तन्त्र बहुत ही गन्दी राजनीति के चंगुल में है। स्वामिनारायण के समय गुजरात में शिक्षा की क्या स्थिति थी यह समझने की आवश्यकता है। उन्होंने ब्रह्मा विष्णु महेश की ज्योतियों का दर्शन भक्तों को कराया था, उनका प्रवचन सुनने त्रिदेव प्रतिदिन आते थे यह बात यदि वचनामृत में दर्ज है तो इसी से उक्त समय की गुजरात की शैक्षिक स्थिति का पता चल जाता है। सहजानन्द जो उपदेश देते थे वह त्रिदेवों के लिये भी दुलर्भ था यही तो मानना पड़ता है। त्रिदेवों से ऊपर अक्षर ब्रह्म है, उससे ऊपर पर ब्रह्म है, यह उपदेश उन का था। उनका ज्ञान शाश्वत होता है। यह उपदेश त्रिदेवों के लिये दुलर्भ था, वे क्या जानते कि हमसे ऊपर भी कोई सत्ता है। आज भी पर ब्रह्म से ऊपर की सत्ता का पता पर ब्रह्म को नहीं है। कुछ लोग त्रिदेवों से ऊपर पर ब्रह्म नहीं मानते, उन्हें वेदादि शास्त्रों में ऐसा कोई

प्रमाण नहीं मिलता, वे सहजानन्द की अघोरी गुरु परम्पराओं में शामिल नहीं हुए यही मानना पड़ेगा। सहजानन्द ने शास्त्र विरुद्ध मान्यताओं को घोर नहीं माना था इससे अपना नया पञ्चशिख सम्प्रदाय बिना पूंछ के गुजराती जन्तुओं में चलाया। अब भी यह सम्प्रदाय चल रहा है, भला गुरु से हटकर वे कैसे सोचें, शास्त्र समझने लायक ही होते तो किसी को गुरु क्यों बनाते। अपना सामान ढ़ोने में सक्षम व्यक्ति कुली की तलाश नहीं करता। अधिक समझदार यात्री अपना सामान वही मानते हैं जो कुली उन्हें थमा देते है, कुली धोखा नहीं करता, उसका नम्बर होता है। अनादि अनन्त महासंसार यात्रा में चल रहे चेतनों को उपदेशक निर्देशक कुली ड्राईवर जैसे घटकों की आवश्यकता तो होती ही है, अन्यथा यात्रा सम्भव नहीं होगी।

सो ठीक है, किन्तु अपने विवेक के सहारे ही दूसरों से सहयोग लिया जाता है। भाड़ा पहले पूछ लिया जाता है। अन्यथा प्राण तक का भी धोखा हो जाता है। यहाँ गुरु का प्रसंग है, सारे विश्व के गुरु एक ही हैं सर्वात्मा ईश्वर, वे ही सारे विश्व का नियन्त्रण और सञ्चालन सदा से कर रहे हैं। उनका अभिप्राय परम्परा से समझ रहे महापुरुष भी गुरु होते हैं। वे ही सबको मिलते हैं। सर्वात्मा तो ब्रह्मा आदि को ही मिलते हैं। सहजानन्द ने रामानन्द, उद्धवजी और भगवान् कृष्ण से आचार्य सम्बन्ध बनाने का प्रदर्शन किया था। किन्तु कृष्ण सर्वात्मा ईश्वर के रूप में मान्य नहीं हैं कम से कम सहजानन्द तो वैसा नहीं ही मानते थे। फिर उन्होंने उद्धवजी को स्वयम् अपना श्री कृष्णमन्त्र दिया था इसमें कोई प्रमाण नहीं है, उद्धवजी ने रामानन्द को कृष्णमन्त्र दिया था यह भी विश्वास के योग्य नहीं है। और यदि ऐसा मान्य था तो कृष्ण को अवतार कहकर अवतारी से छोटा क्यों कहा गया। फिर अवतार कृष्ण को ही गर्भगृह में स्थापित करके पूजा जाना चाहिये था, ऐसा क्यों नहीं होता? पाँच तत्त्वों का गुरुमन्त्र से, ध्येय से, या मोक्षदर्शन से क्या सम्बन्ध है? स्वामिनारायण के पाँच तत्त्वों का उल्लेख किसी आर्ष ग्रन्थ मे है क्या? वास्तव में यह पञ्चतत्त्ववाद पतित शांकरों की उञ्छवृत्ति है जो पतितों को ही भाती है। अथवा कोई बाल चपलता है, बालकों को ही रुचता है। अलग सम्प्रदाय के प्राचीर के वे पोले खूंटे हैं। जल्दी मिटने वाले हैं। आदि शास्त्र ईश्वरीय सत्य संकल्प से सामञ्जस्य ही गुरुत्व या आचार्यत्व है। सहजानन्द ने जीव और ईश्वर का अस्तित्व माया के योग से माना है किन्तु माया

के नाश के बाद मुक्त अवस्था में जीव के नाम और रूप क्या होते हैं यह उनके चेलों को जानना चाहिये, यह भी उन्हें जानना चाहिये कि आज तक कितने ईश्वर मोक्ष साधना से मुक्ति पाने में सफल हो पाये हैं। फिर माया किसी को ईश्वर बनाती है और किसी को जीव, यह भेद कैसे हो जाता है, यह भी उन्हें समझकर बतलाना चाहिये। वास्तव में माया से ईश्वर का अस्तित्व और मुक्ति मानने वाले सहजानन्द के पुछल्लों को अपने प्रेरक शांकर दसनामियों की पंक्ति में ही ससम्मान विराजना चाहिये। उन्हें अपने अलग एक सम्प्रदाय की कल्पना में भटकते रहना व्यर्थ है। कण्ठी बान्धने पर भी दसनामी इन्हें अपनायेंगे ही, रामानन्द को अपनाया था तो चेलों को न अपनाने की बात क्यों आयेगी। जब पञ्चतत्त्ववाद से मोह है और भागवत पुराण के अनुसार उद्धवजी का उक्त पञ्चतत्त्व अभिमत नहीं है तो गुरु के साथ ही शांकर दसनामियों में ही प्रचुर आनन्दान्त नाम वाले नये रंग के गुर्जर साधुओं को भी बैठना चाहिये। विष्णु तत्त्व से ऊपर नाना तत्त्व मानने वालों का सर्वोत्तम सम्मानयुक्त पद और प्रतिष्ठा यही है। इससे सम्प्रदाय के नये होने की भ्रान्ति और नये नाम की तलाश की चिन्ता भी दूर हो जायेगी।

आत्मा मानो एक ही, माया करे सहाय।
बन्धमोक्ष व्यवहार के, भेद यहीं रह जाय।
भेद यहीं रह जाय, काम वह कभी न आये।
जब जब हो अज्ञान तभी वह आये जाये।
कह तटस्थ सन्देश, सुनो माया के सन्तो।
कर लो हृदय विचार, मोह का कर लो अन्तो।

***

चमत्कारी सहजानन्द : ग्रहों के प्रकाश में

स्वामिनारायण नाम से प्रसिद्ध सहजानन्द को उनके भक्त सर्वावतारी भगवान् कहते हैं। उनका मानना है कि सारे अवतार जिनसे होते हैं वे हमारे स्वामी नारायण हैं। बिना अवतारों के और कम अवतारों वाले भगवान् नहीं होते इससे सर्वावतारी शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। भगवान् एक ही हैं और सारे अवतार उनके होते ही हैं। सहजानन्द को भगवान् मानने का कोई आधाार नहीं है, न कोई

शास्त्रवचन है न कोई ईश्वरीय चमत्कार। उन्होंने स्वयम् अनेकबार दृढ़ता से स्वयं को भगवान् कहा है।

उनकी दृढ़ता भाषा में थी, हृदय में नहीं। भाषा को चेलों ने पकड़ा है। व्यवहार की समीक्षा नहीं की। यदि वे भगवान् थे तो परमधामगमन की सूचना चेलों को संकेत में भी देते। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। रात में सोये और सुबह मृत पाये गये। बस यही उनका परमधाम गमन वृत्तान्त है। यदि भगवान् थे तो सारे भक्तों को धोखा दिया। यदि धोखा नहीं दिया तो भगवान् नहीं थे। चेले उन्हें भगवान् मानते हैं, गुरु होने के नाते, गुरु को भगवान् ही माना जाता है। मानने और होने में अन्तर होता है। गुरु को भगवान् मानने से पुण्य होता है, किन्तु मान्यता में यदि सीमा का अतिक्रमण होता है तो अपराध लगता है। गुरु की मूर्ति विशाल बनवाकर गर्भगृह में स्थापित कर उनके इष्टकी मूर्ति बगल में स्थापित करना और इष्ट को छोड़कर पहले गुरु को प्रणाम करना उनके इष्ट के प्रति और फलतः गुरु के प्रति भी अपराध होता है। गुरु ने स्वयं को सर्वावतारी कहा इतने से वे अपने इष्ट के भी इष्ट नहीं हो गये। गुरु दैनिक सन्ध्या आरती के समय जिनका ध्यान और प्रणाम करते थे उन्हें ही गर्भगृह में स्थापित करना था। अवतार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें गुरु भगवान् कहना काफी है। उन्होंने श्रीमद्भागवत और गीता आदि शास्त्रों के अभ्यास की जो हिदायत दी है वही ध्यान में रखने और करने की आवश्यकता है। उन्हें भगवान् का अवतार मानकर ध्यान करना उचित ही है। हर एक उपदेशक गुरु भगवान् ही होता है किन्तु भगवान् के अनन्त रूपों में से पौराणिक अवतार रूपों को हल्का ठहराना और एक सामान्य मानव को सारे अवतारों से श्रेष्ठ ठहराने के लिये उसकी विशाल प्रतिमा बनाना एवं श्रद्धेय अवतारों की प्रतिमा फीकी और छोटी बनाकर उस मानवी प्रतिमा के पास रखना यह न कोई भक्ति है न सही ज्ञान है न उपासना है। यह तो विदेशियों से प्रेरित एकमात्र दम्भ है। इस संगठन वाले आज सब ओर यही दम्भ रच रहे हैं। इस दम्भ से ही धर्मात्माओं में अपनी गिनती करा रहे हैं।

प्रस्तुत मानव सहजानन्द के तथाकथित अमृत वचनों को पढ़ने से साफ मालुम होता है कि इस व्यक्ति को प्रौढ़ पण्डितों की संगति नहीं मिली थी, कुछ अल्पशिक्षित साधुओं से कुछ कुछ सीखने का अवसर

मिला था। स्वयम् भगवान् कहलाने की ललक ने इसकी सद्‌बुद्धि नष्ट कर दी थी।

इसी से दम्भपथ इसे ज्यादा रुचा। दम्भ में इसने सारे पुराने दम्भों को मात दे दी। स्वयं को सारे भगवानों से ऊपर ठहराने की ढिठाई इसकी सर्वोपरि हो गयी। एकात्मवादी सारे वेदान्ती इसके बहुत पीछे रह गये। फिर भी दम्भ कोई धर्म नहीं होता न उससे किसी का आत्मकल्याण होता है। इस संगठन के सारे सदस्य अटलान्टिक समुद्र पार करने के लिये कागज के जहाज पर बैठते जा रहे हैं। प्रारब्ध इन्हें वह जहाज देता ही है। मजबूत जहाज में पानी घुस चुका है, बिखराव जारी है, परिणाम निकट है। गुरु भगवान् ने नियम बनाया कि गुरुमन्त्र हमारे भाइयों के पुत्र ही देंगे, अन्य कोई नहीं देगा। किन्तु कुछ समय बाद मूल शंकर को साधु बनाकर उसे अक्षर ब्रह्म का अवतार घोषित किया और अध्यात्मपथ का प्रकाश स्तम्भ उसे ही बतलाया, तब से उसके द्वारा प्रभावी गुरुपरम्परा चालू हुई और भाइयों के पुत्रों वाली फीकी हो गयी। अब एक वर्ग दूसरे वर्ग को मान्यता नहीं देता। यह भेद भगवान् बने गुरु ने ही डाला। भगवान् तो सारे भेद रचते ही है, समाधान रहित भेद बड़ी करामात होता है। और भी देखिये। शरीर छूटने के बाद गुरु भगवान् का मन अक्षर धााम में नहीं लगा। तब वे दुबारा मनुष्य बने कृष्ण वल्लभ पटेलके रूप में। ''विवेकभ्रष्टानाम् भवति विनिपातः शतमुखः'' यह सूक्ति चरितार्थ हुई पटेल शरीर से इन्होंने बहुत से शास्त्र ग्रन्थों को टटोला, परीक्षायें देकर अनेक उपाधियाँ अर्जित कीं, बहुत से ग्रन्थ और निबन्ध लिखे, गुजरात में नामी पण्डित के रूप में ख्याति अर्जित की, न्यायाचार्य उपाधि अर्जित करके काशीके मूर्धान्य नैयायिक पं. वामाचरण भटाचार्य को अपने अनुकूल कर न्याय के मूर्धन्य पण्डित कहलाये, पटेल उपाधि छोड़कर आचार्य उपाधि जोड़ी और कृष्णवल्लभाचार्य कहे गये। अनुकूल अवसर देखकर के स्वयं को वही स्वामी नारायण बतलाया जिन्होंने ईश्वर से ऊपर दो नये ब्रह्म ढूंढ़े थे। पहले स्वामिनारायण भगवान् मानकर पूजे गये, अब कृष्ण वल्लभ स्वामिनारायण मानकर पूजे जा रहे हैं। आगे चलकर कोई मेधावी बालक कृष्णवल्लभ मानकर पूजा जायेगा। इससे बाद वालों की छाया में पहले वालों का लोप होता जायेगा। प्रकृति को गुजरात में यही पसन्द है।

***

चमत्कारी व्यक्तित्व

सहजानन्द का व्यक्तित्व चमत्कारी था, उनकी बात कटती नहीं थी, उनका प्रभाव व्यापक था, वे नपा-तुला ठोस वचन बोलते थे, इससे लोग उनकी बात मान लेते थे। उनकी जन्मपत्री में वाणी का पति गुरु बक्री होकर मित्रराशि वृश्चिक में लग्न में ही स्थित था। साहस और मित्रों का स्वामी शनि भी वक्री होकर गुरु के साथ था। यह एक अच्छा राजयोग है, लग्न में बना है इससे व्यक्तित्व प्रभावी हुआ, राज्य मिला पर केमद्रुम योग ने लेने नहीं दिया। इससे मित्र बहुत हुए, साहस भी प्रचुर रहा। जो कहा वह हो गया, जिसे ब्रह्म कहा वह ब्रह्म हो गया, जिसे अवतार कहा वह अवतार हो गया। प्रमाण सारे पीछे रह गये, प्रमेय अप्रेमय होकर सामने आये। वक्री गुरु शनि के विपुल प्रभाव से युक्त व्यक्तित्व को दो पापग्रह मंगल और केतु आगे पीछे से कैंची की तरह काट रहे हैं, इसे क्रकच योग कहते हैं, इससे यह व्यक्तित्व निर्विघ्न नहीं रहा, बल्कि बहुत से विघ्नों से बाधित और अशान्त रहा। उनकी सही जीवनी लिखी जाये तो अशान्ति ज्यादा उभरेगी। चन्द्रमा केमद्रुम योग बना रहा है, उसपर सभी ग्रहों की अच्छी दृष्टि होने से बुरा प्रभाव देखने को बहुत कम मिला, फिर भी अनावश्यक भ्रमण तो वह कराता ही रहा। केन्द्र में कोई ग्रह स्वगृही या उच्च का नहीं है इससे शास्त्रीय महापुरुष योग नहीं बना, तब ईश्वरीय अवतार की तो बात दूर ही रह जाती है। अवतार की कोई बात भी इनके जीवन में देखने को नहीं मिली है। बुध गुरु शनि के वक्री होने के फलस्वरूप कुछ मान प्रतिष्ठा और धन मिला है। अन्ध भक्त इन्हें भगवान् कहते हैं, भगवान् कहना इनकी एक राजनीति भी रही है, दूसरे अवाञ्छित तत्त्व का प्रभाव घटाने के लिये किसी को भगवान् कहकर उसके नाम से कोई नया मत चलाना एक राजनीति होती है। चेले स्वयम् इस गुरु भगवान् के द्वारा सामाजिक सुधार मानते हैं। सामाजिक परिवर्तन राजनीति से ज्यादा होते हैं। धर्म नीति और भक्ति का उसे सहयोग मिलता है। गुजरातियों ने अपने समाज में क्रान्ति लाने के लिये अभ्यागत गुरु सहजानन्द को गुरु और भगवान् घोषित किया। गुरु ने भी भ्रमवश स्वयं को बहुतवार दृढ़ता से कहाकि मैं ही सबसे अच्छा भगवान् हूँ। गुजरातियों को रद्दी भगवान् के बदले नया भगवान् मिलने से संतोष हो गया। रामकृष्ण नृसिंह वामन आदि

रद्दी भगवानों को इन्होंने दूसरे प्रदेशों के सन्तों के लिये छोड़ दिया और नये द्विभुज नर भगवान् सहजानन्द की विशाल प्रतिमा बनाकर गर्भगृह में स्थापित किया। पुराने अवतारों की भी छोटी मूर्तियाँ बनवाकर केवल प्रणाम के लिये स्थापित किया और पूजने के लिये अशास्त्रीय सहजानन्द को मध्य में रखा। यह अक्ल इन्हें सहजानन्द से मिली या सहजानन्द को ही यह अक्ल गुजरातियों से मिली यह रिसर्च का विषय है। इस गुरु को अपनी अक्ल होती तो दूसरे प्रदेशों में भी बाँटता। ऐसा नहीं हुआ इससे यह गुजराती ऊपज समय की मांग पर हुई है। यह गुजराती खुश्क ऊपज देश के दूसरे प्रान्तों में नहीं चलती पर विदेशों में बौद्ध दर्शन की तरह खूब चल रही है। गुजराती मानते हैं कि हमारे गुरु ने अपने बचपन में ही काशी के पण्डितों को शास्त्रचर्चा में पछाड़ दिया था। इससे आगे उन्होंने गुजरात में कभी शास्त्रचर्चा नहीं की। सोचने की बात है कि बचपन का ब्याह और शास्त्रार्थ महत्त्व नहीं रखता। यह दोनों जवानी की शोभा है। गुरु को शास्त्रज्ञान था तो जवानी में काशी के पण्डितों को बुलाते या स्वयं जाकर चर्चा करते। गुजराती लोग दाल में गुड़ की तरह बात में झूठ मिलाया करते हैं। सहजानन्द को शास्त्र की भाषा आती ही नहीं थी। वचनामृत में कहीं भी उसकी झलक नहीं है तो उन्होंने कब किसे किस विषय पर पराजित किया है। पता लगाना है कि झूठ बोलने में गुरु ज्यादा माहिर रहा है या अबके चेले हैं।

झूठ नींव पर खड़ा कर लिया, भारी अक्षर धाम।
किन्तु हाय गुरु को भी मिलता, नहीं वहाँ आराम॥

***

सहजानन्द के लग्नग्रहचक्र

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च।
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

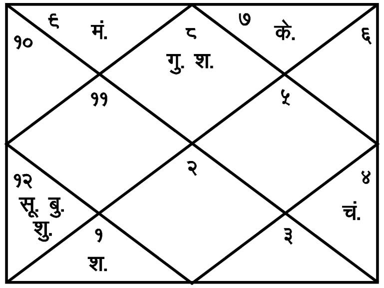
जातक का नाम– घनश्याम • जन्मस्थान– बस्ती (उ.प्र.)

जन्मतिथि– 3–4–1781 मंगलवार • समय– 10:10 रात्रि

राशि– कर्क • नक्षत्र– पुष्प–8 • वर्ण– ब्राह्मण • वश्य– जलचर

योनि– मेष • राशीश– चन्द्रमा • गण–देव • नाड़ी–मध्य

जन्माङ्ग



वक्री– बुध, गु., श.

चैत्र शुक्ल नवमी परं दशम्यां जन्म।

सूर्यास्त – 7:14

दिनमान – 31–10

गुलिक– 5–23–1–9–23 (पाराशर)

6–12–34–44 (कालिदास)

स्पष्ट ग्रहाः

लग्न	– 7–14–42–44
सूर्य	– 11–24–29–38
चन्द्र	– 3–14–49–38
मंगल	– 8–13–33–29
बुध	– 11–23–12–48 वक्री
गुरु	– 7–05–54–17 वक्री
शुक्र	– 11–07–45–54
शनि	– 7–29–30–49 वक्री
राहु	– 0–14–56–06
केतु	– 6–14–59–06